Regd. No. 58414/94

स्वामी रामानन्द जी द्वारा संचालित

हमारी साधना

त्रैमासिक

वर्ष 28 • अंक 3 • जुलाई-सितम्बर 2021

मूल्य रु. 25/-

भौतिक लक्ष्यों को जीवन की उच्चतम उपलब्धियाँ मानना विनाश को निमन्त्रण देना है। ऐसा करना तो स्वयं को निम्न-स्तरीय प्रकृति के हाथों सौंपना है। यह तो जान बूझकर कामना राक्षसी का शिकार बनना है। कामना सम्मोहन करके दास बनाती है। वह ऐसी अग्नि प्रज्ज्वलित करती है जिसमें सर्वस्व भस्म हो जाता है।

(जीवन विकास - एक दृष्टि, पृष्ठ 23-24)

करुणामयी सुमित्रा माँ

हमारी साधना

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत्।।
न त्वहं कामये राज्यम्, न स्वर्गम् न पुनर्भवम्।
कामये दुःख तप्तानाम्, प्राणिनामार्ति नाशनम्।।

वर्ष : 28 जुलाई-सितम्बर 2021 अंक : 3

भजन

जन की विपति सदा हरि टारी।
राखि लयो प्रहलाद भक्त कहँ संकट सकल सँघारी।
ध्रुव अबोध कहँ दयो अटल पद बन में करि रखवारी।।
अम्बरीस को मान बढ़ायो दुरबासहिं ललकारी।
ग्रह का मान मारि गज राख्यो चक्र सुदरसन धारी।।
दई दीन विप्रहिं तिलोक निधि निज निरबाहु बिसारी।
द्रुपद सुता की लाज बचाई दइ कौरव पद भारी।।
भक्तराज नरसी की हुंडी आपुहि जाय सकारी।
रामसरन लखि छोभ जना को स्वयम् बने पिसनहारी।।

भजन संख्या 17 - स्व. श्री सूर्यप्रसाद शुक्ल जी 'रामसरन'

प्रकाशक
साधना परिवार
स्वामी रामानन्द साधना धाम,
संन्यास रोड, कनखल,
हरिद्वार-249408
फोन: 01334-240058
मोबाइल: 08273494285

सम्पादिका
श्रीमती रमन सेखड़ी
995, शिवाजी स्ट्रीट,
आर्य समाज रोड
करोल बाग,
नई दिल्ली-110005
मोबाइल: 09711499298

उप-सम्पादक
श्री रमेश चन्द्र गुप्त 'विनीत'
1018, महागुन मैंशन-1,
इन्दिरापुरम,
गाजियाबाद-201014
ई-मेल: rcgupta1018@gmail.com
मोबाइल: 09818385001

विषय सूची

क्र.सं.	विषय	रचयिता	पृ.सं.
1.	चित्र – करुणामयी सुमित्रा माँ		2
2.	भजन	स्व. श्री सूर्यप्रसाद शुक्ल जी 'रामसरन'	3
3.	सम्पादकीय		5
4.	तुझे पिता कहूँ या माता	भरत हरि नाथ	6
5.	माया है तेरी अपार	राधेश्याम रामायण से उद्धृत	6
6.	पुकार	सन्तोष नागिया	7
7.	जब तुम पूरण देव मिले	डॉ. नानकराम सुन्दरानी	7
8.	चरणों में खो जाऊँ	विजयेन्द्र भण्डारी	7
9.	गुरु महिमा	संकलन - दीपक दीक्षित	8
10.	जब संसार ने ठुकराया		8
11.	गीता विमर्श – श्रीमद्भगवद्गीता चतुर्थोऽध्याय (गतांक से आगे) – स्वामी रामानन्द जी		9-15
12.	दानदाताओं की सूची		15, 42
13.	श्री गुरुदेव निर्वाण-दिवस साधना शिविर-2021 (14-21 अप्रैल 2021) – प्रवचन सार		16-17
14.	गुरु पूर्णिमा - गीत	ओम शंकर जी शुक्ल निर्भीक	17
15.	श्री गुरु पूर्णिमा शिविर-2021 (21-25 जुलाई 2021) - विवरण तथा प्रवचन सार		18-19
16.	साधना परिवार की कार्यकारिणी की बैठक का विवरण		19-20
17.	जीवन की ऊँची नीची घाटियों में तुम्हारे साथ हूँ	श्रीमती लक्ष्मी देवी जी	21-23
18.	शुभ समाचार		23
19.	स्वामी जी के साधन सम्बन्धी विचार	श्याम कुमारी वर्मा जी	24-26
20.	संयम का उपार्जन	स्वामी रामानन्द जी	27-28
21.	स्वामी जी से परिचय	श्री शिव नारायण सक्सेना जी	29-31
22.	कर्मयोग	लक्ष्मी सक्सेना जी	32-36
23.	शोक समाचार		36
24.	शाश्वत्-शान्ति (थ्योसोफिकल आनन्द लॉज द्वारा फरवरी 1949 में आयोजित स्वामी जी का भाषण)		37-42
25.	चित्र - श्री गुरु पूर्णिमा शिविर-2021 एवं श्री कृष्ण जनमाष्टमी		43-44

Printed and Published by Shri Dinesh Bahl for and on behalf of Swami Ramanand Sadhna Pariwar, Sadhna Dham, Sanyasa Road, KANKHAL-Haridwar (Uttarakhand) and printed at Rakmo Press Pvt. Ltd., C-59, Okhla Industrial Area Phase-I, New Delhi-110020.

सम्पादकीय

परिवर्तन प्रकृति का नियम है क्योंकि यह अनित्य है। कैसी विडम्बना है कि साधना परिवार दिसम्बर 2019 के पश्चात् जून 2021 तक साधना धाम, हरिद्वार में एक भी शिविर का आयोजन नहीं कर पाया। हाँ, गुरु महाराज की असीम अनुकम्पा से गुरु-पूर्णिमा के अवसर पर लॉक डाउन की सीमाओं में रहकर इस वर्ष लगभग 50 साधकों की उपस्थिति में दिनांक 21 जुलाई 2021 से 25 जुलाई 2021 तक आयोजित हो पाया। आगामी शिविरों के आयोजन अभी अनिश्चित अवस्था में हैं।

इस अवधि में साधना परिवार ने अपने कुछ अमूल्य रत्नों को खो दिया जिनमें पूर्व अध्यक्ष जी ओम प्रकाश सेखड़ी जी तथा श्री नारायण सेवक वाजपेयी जी प्रमुख हैं। कई अन्य साधकों ने भी अपने प्रियजनों को खो दिया है किन्तु परिवारजनों ने गुरु महाराज की इस पंक्ति को याद करके धैर्य धारण कर लिया है कि मृत्यु तो मात्र एक पटाक्षेप है। साथ ही गीता की इस उक्ति को भी याद रखते हैं कि

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः। अस्तु!

कोरोना महामारी के चलते आपकी यह पत्रिका जनवरी 2020 से जून 2021 तक प्रैस में नहीं छप सकी यद्यपि उनकी इलैक्ट्रोनिक प्रतिलिपियाँ साधना परिवार की वैबसाइट www.sadhnaparivar.in पर अपलोड कर दी गई थी। इस अंक को छपवाने तथा प्रेषित करने की यथासम्भव चेष्टा की जा रही है।

पत्रिका के सभी अंक कुछ विशिष्टता लिये होते हैं। इस अंक की विशेषता है गुरु महाराज के दो प्रवचनों - **'संयम का पालन'** तथा **'शाश्वत् शान्ति'** का संकलन। गुरु महाराज के प्रवचन हम साधकों के लिये विशेष महत्त्व रखते हैं। इनको पढ़ते समय ऐसी अनुभूति होती है जैस स्वयं गुरुदेव प्रत्यक्ष रूप में हमारे समक्ष उपस्थित हों।

इसके अतिरिक्त पुरानी पत्रिकाओं से मोती चुनकर इस अंक में समाविष्ट किये गये हैं जैसे **'स्वामी जी से परिचय', 'कर्मयोग'** इत्यादि।

पत्रिकाओं को उत्तरोत्तर अधिक रोचक व उपयोगी बनाने की चेष्टा की जाती है फिर भी त्रुटियाँ तो रह ही जाती हैं जिसके लिये सम्पादक मण्डल क्षमा प्रार्थी है तथा सुधी पाठकों से लेखों व सुझावों की अपेक्षा रखता है।

पत्रिका में प्रकाशनार्थ भजन, लेख, संस्मरण आदि रचनायें पत्रिका के मुख्य सम्पादक अथवा उपसम्पादक के पते पर प्रेषित करें। लेख आदि पूज्य गुरुदेव की साधना पद्धति से मेल खाते हुए होने चाहिये। लेख E-mail अथवा WhatsApp के माध्यम से भी भेजे जा सकते हैं।

तुझे पिता कहूँ या माता

तुझे पिता कहूँ या माता,
तुझे मित्र कहूँ या भ्राता,
सौ सौ बार नमन करता हूँ,
चरणों में झुका कर माथा।
हरि ॐ हरि ॐ हरि ॐ,
हरि ॐ हरि ॐ हरि ॐ॥
फूलों में खुशबू तेरी
जो सबको महकाती है,
बदरी में है जो जीवन
वह रिमझिम बरस जाती है।
कण कण में तुही बसा है,
पर नज़र कहीं नहीं आता।
सौ सौ बार नमन करता हूँ,
चरणों में झुका कर माथा।
हरि ॐ हरि ॐ हरि ॐ,
हरि ॐ हरि ॐ हरि ॐ॥
ये पक्षी की जो कलरव
तुमसे ही तो होती है,
गर दया तेरी हो जाए
माटी का कण मोती है।
तेरा गुण गाऊँ घर घर में
बन करके तेरा बंजारा।
सौ सौ बार नमन करता हूँ,
चरणों में झुका कर माथा।
हरि ॐ हरि ॐ हरि ॐ,
हरि ॐ हरि ॐ हरि ॐ॥
जो आया दर पे तेरे,
तूने बात न उसकी टाली
तेरी कुदरत से हे बाबा,
एक हाथ से बज जाए ताली।
जो तेरे दर का भिखारी,
वह कुछ न कुछ तो पाता।
सौ सौ बार नमन करता हूँ,
चरणों में झुका कर माथा॥
तुझे पिता कहूँ या माता,
तुझे मित्र कहूँ या भ्राता,
सौ सौ बार नमन करता हूँ,
चरणों में झुका कर माथा।
हरि ॐ हरि ॐ हरि ॐ,
हरि ॐ हरि ॐ हरि ॐ॥

– भरत हरि नाथ, मुम्बई

माया है तेरी अपार

माया है तेरी अपार, अपार तेरी माया।
माया है तेरी अपार, अपार तेरी माया॥

तू ही सगुण है, तू ही निगुण है,
तू ही है लीलावतार, अपार तेरी माया।
माया है तेरी अपार, अपार तेरी माया॥
तू ही तारक, अहिल्या सी नारी,
दी है चरण-रज से तार, अपार तेरी माया।
माया है तेरी अपार, अपार तेरी माया॥
केवल शिला ही थी वह शाप के वश
हम पाप पर्वत दातार , अपार तेरी माया।
माया है तेरी अपार, अपार तेरी माया॥
तूने ही थे बेर शबरी के खाये
दिखलाया वह प्रेमाचार, अपार तेरी माया।
माया है तेरी अपार, अपार तेरी माया॥
उद्देश्य तेरा सदा यह ही रहता
संसार में हो सुधार, अपार तेरी माया।
माया है तेरी अपार, अपार तेरी माया॥
तूने ही भूपों को शासन सिखाने
त्यागी सिया जैसी नार, अपार तेरी माया।
माया है तेरी अपार, अपार तेरी माया॥
मोहन तू लीलाएँ नाना दिखाता
हरने को पृथ्वी का भार, अपार तेरी माया।
माया है तेरी अपार, अपार तेरी माया॥

(राधेश्याम रामायण से उद्धृत)

प्रेषक – श्री अशोक कुमार भारद्वाज, दिल्ली

पुकार

इक बार आ, इक बार आ, इक बार आ,
मेरा दिल तुझे है बुला रहा - इक बार आ ... ...
जब आया था अनजान थी, पहचाना ना नादान थी
जाना ना तू भगवान था, तू सर्व शक्तिवान था
इक बार ... ...
इक बार आ पूजा करूँ, और शीश चरनन पर धरूँ
जी भरके मैं दर्शन करूँ, तन मन दूँ चरनन पे चढ़ा
इक बार ... ...
माना कि नियम अखण्ड है, पर शक्ति तेरी प्रचण्ड है
वश भक्तों के आता रहा, अब दीन की सुन के भी आ
इक बार ... ...
निश दिन हूँ पंथ निहारती, अति दीन हो मैं पुकारती
पर हूँ अधम यह विचारती, क्योंकर दरश होवे तेरा
इक बार ... ...

- सन्तोष नागिया

जब तुम पूरण देव मिले

जब तुम पूरण देव मिले, फिर दूसरा देव मनाऊँ क्यूँ।
या तन में आतम देव मिले, फिर बन-बन खोज लगाऊँ क्यूँ।।

मैं तेरा हूँ तू है मेरा, तू और नहीं मैं और नहीं।
जब ऐसा निश्चय जान लिया, फिर और से प्रीत लगाऊँ क्यूँ।।

आप से सच्चा ज्ञान मिला, प्रेम का सुन्दर सामान मिला।
''राम'' नाम का सहारा मिला, फिर और से दिल अटकाऊँ क्यूँ।।

तेरी दया से घट भीतर, ''राम'' नाम का प्रकाश हुआ।
मन अन्दर ज्योति बिराज रही, फिर दीपक और जलाऊँ क्यूँ।।

चित्त मेरा रहे तेरे चरणों में, इस देह में सुख-रूप बनूँ।
''नानक'' तेरा दर्शन पाया, अब और से आँख मिलाऊँ क्यूँ।।

- डॉ. नानकराम सुन्दरानी

चरणों में खो जाऊँ

चरणों में खो जाऊँ
प्रभु के चरणों में खो जाऊँ

लिपट लिपट कर जी भर रो लूँ,
अन्तर विमल बनाऊँ,
पाऊँ क्लान्ति न शान्ति एक पल,
और कहीं जो जाऊँ,
चरणों में खो जाऊँ।

रहे न ध्यान ज्ञान अपने का,
निज अस्तित्व मिटाऊँ,
प्रभु कृपालु हो जाएँ मेरे,
मैं प्रभु का हो जाऊँ,

चरणों में खो जाऊँ।
प्रभु पर प्लवित भक्ति सुरसरि में,
मल मल देह नहाऊँ,
युगों युगों के अपने संचित,
कलि कल्मष धो जाऊँ,
चरणों में खो जाऊँ।

अपनी यह अन्तिम अभिलाषा,
यदि पूरी कर पाऊँ,
नयनों में हरि बसें और
पलक मूँद सो जाऊँ,
चरणों में खो जाऊँ।

- विजयेन्द्र भण्डारी

गुरु महिमा

गुरु मेरे भगवन गुरु ज्ञान दाता,
गुरु इष्ट स्वामी गुरु है विधाता।
गुरु मेरे बन्धु गुरु मेरे भ्राता,
गुरु में दिखे है पिता और माता॥

गुरु मन्त्र अमृत गुरु नाम प्यारा,
गुरु गुण सरोवर गुरु प्रेम धारा।
गुरु वेद वाणी परम ब्रह्म ज्ञाता,
गुरु इष्ट स्वामी गुरु है विधाता॥

मोक्ष की सीढ़ी गुरुवर का द्वारा,
भव फंद काटे गुरु का इशारा।
गुरु हर भरम दुःख अवगुण मिटाता,
गुरु इष्ट स्वामी गुरु है विधाता॥

बिना लक्ष्य बीता जीवन हमारा,
गुरु ने बनाया गगन का सितारा।
गुरु संग जुड़ा है जन्मों का नाता,
गुरु इष्ट स्वामी गुरु है विधाता॥

गले से लगाया दिया है सहारा,
पतवार बनके दिखाया किनारा।
गुरु ध्यान सुमिरन हर सुख प्रदाता,
गुरु इष्ट स्वामी गुरु है विधाता॥

गुरु ने सजाया गुरु ने सँवारा,
परम ज्ञान देकर गुण को निखारा।
गुरु सत्संग से ही मन चैन पाता,
गुरु इष्ट स्वामी गुरु है विधाता॥

संकलन - दीपक दीक्षित

संसार ने जब ठुकराया

संसार ने जब ठुकराया,
तब द्वार तेरे मैं आया।
मैंने तुझे कभी न ध्याया,
तूने सदा सदा अपनाया॥

मैं मद माया में फूला,
तेरे उपकारों को भूला।
तूने कभी नहीं बिसराया,
मैं ही जग में भरमाया॥

संसार ने जब .....

रहा मोह नींद में सोया,
शुभ अवसर हाथ से खोया।
जब लूट रही थी माया,
तूने कितनी बार जगाया॥

संसार ने जब .....

जग में सब कुछ था तेरा,
मैं कहता रहा मेरा-मेरा।
अब अन्त समय जब आया,
मैं मन ही मन पछताया॥

संसार ने जब .....

गीता विमर्श

श्रीमद्भगवद्गीता चतुर्थोऽध्याय

(गतांक से आगे)

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥36॥

'चाहे तू पापियों में सबसे बड़ा पापी क्यों न होवे ज्ञान की नौका से ही सभी पाप को पूरी तरह से तर जायेगा'॥36॥

पाप-नदी को पार करने के लिए ज्ञान सुदृढ़ नौका है। बड़े से बड़ा पाप भी क्षीण किया जा सकता है ज्ञान के द्वारा।

अर्जुन युद्ध में पाप-परम्परा को देखता था। भगवान् ने उसे बहुत समझाया। कई प्रकार से निष्ठा जागृत करने की चेष्टा की। स्वधर्म का रास्ता बताया। कर्म-ब्रह्मार्पण-योग कहा। अब कहते हैं 'जा, जाकर सेवा कर किसी तत्त्ववेत्ता की और ज्ञान को सीख, उस ज्ञान से तू पाप-परम्परा को तैर सकता है।' भगवान् का प्रयोजन कदापि यह न था कि अर्जुन युद्ध को छोड़कर किसी गुरुगृह में सेवा करे ज्ञान को पाने के लिए। गुरुओं के गुरु तो वह स्वयं थे, सर्वसमर्थ थे। यह सब तो ज्ञान के महत्त्व को बताने को कहा और ज्ञान का महत्त्व उस साधना के महत्त्व को बताने के लिए जिसकी चर्चा भगवान् करते चले आ रहे हैं। लौट फिरकर वहीं पर ले आते हैं अर्जुन को।

उपदेश करते हैं 'कर्म के योग का अवलम्बन ले'। ज्ञान पापों को नष्ट करता है, घोरातिघोर पाप भी ज्ञान के सामने नहीं टिक पाता।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥37॥

'हे अर्जुन! जिस प्रकार से प्रचण्ड हुई आग लकड़ियों को भस्म कर देती है इसी प्रकार से ज्ञान की अग्नि सभी कर्मों को भस्म कर देती है'॥37॥

उदाहरण देकर समझाने की चेष्टा की है। जैसे आग लकड़ियों को भस्म करती है ऐसे ही ज्ञान की अग्नि कर्मों को भस्म करती है। ऊपर के श्लोक में तो कहा था कि पापों को पार कर लेगा, यहाँ कहा सभी कर्मों को भस्म करती है। सभी कर्मों में पाप भी आते हैं और पुण्य भी।

तो कैसे भस्म करती है? स्वरूपतः कर्म का अभाव हो नहीं सकता, यह हम जान चुके हैं। अतः कर्मों को छुड़ाकर तो छुट्टी दिलाई नहीं जा सकती।

दूसरा तरीका है कर्म को अकर्म बना देने का। ज्ञान व्यक्ति के कर्मों को अकर्म बना देता है। न कर्त्तव्य रहता है न कर्म लिपायमान होते हैं। न पाप रहता है न पुण्य रहता है। कर्म का संस्कार बनता ही नहीं। वह देखने मात्र को होता है, जैसे भुना बीज नहीं उगता, ऐसे ही ज्ञानी का कर्म भी फलवान् नहीं होता।

ज्ञान कैसे कर्म को अकर्म बना देता है?

सभी कुछ ब्रह्ममय देखने से अहंकार की निवृत्ति होती है। अहंकार के अभाव में कर्तृत्व नहीं हो सकता। कर्तृत्व के अभाव में कर्म नहीं, अकर्म होता है।

यह साधना है। इस ज्ञान में प्रतिष्ठित होने की चेष्टा करता हुआ व्यक्ति कर्म कर सकता है। समर्पण की भावना को जागृत रखता हुआ भी कर्म कर सकता है। जैसे-जैसे भीतर ज्ञान का स्रोत खुलता जायेगा; कर्म का अभाव होगा, अकर्म होने लगेगा। व्यक्ति में नए संस्कारों का निर्माण तो होगा नहीं, धीरे-धीरे पुराने संस्कार क्षीण होते चले जावेंगे। इस प्रकार से व्यक्ति कर्म से बिल्कुल छुट्टी पा जायेगा।

पाप की नदी से पार हो जायेगा। उसके कर्म दग्ध हो जायेंगे, वह बन्धन से रहित हो जायेगा।

कर्मब्रह्मार्पणयोग की सिद्धि ही इस साधना का आधार है। यह साधना प्राप्त होती है 34, 35वें श्लोकों में कहे साधन से। इसका स्वरूप भी है ज्ञानयुक्त होकर कर्म करना। यह अगले अध्याय का विषय है। यही कर्म संन्यासयोग है।

किस प्रकार से कर्मयोग अपने रूप बदलता हुआ

दिखाई देता है? भगवान् साधना का अनन्य भण्डार अर्जुन के सामने खोलते चले जाते हैं।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ 38 ॥

'और कुछ भी इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र नहीं है। योग में भली प्रकार सिद्ध हुआ (व्यक्ति) स्वयं ही उसे (ज्ञान को) समय पाकर अपने में ही पा लेता है'॥ 38 ॥

ज्ञान की स्तुति में श्लोकार्ध और कहा। ज्ञान को इस श्लोक में पवित्रतम कहा है। इसके बराबर कुछ भी पवित्र नहीं। भगवान् का बोध तो परम पावन है ही। जिस ज्ञान से प्रभु पाये जाते हैं, जिसे पाकर व्यक्ति हमेशा के लिये निर्मल हो जाता है, पाप के स्पर्श की सम्भावना से अतीत हो जाता है, भला उससे पवित्र क्या होगा?

कर्म से पवित्र है ज्ञान। बिना ज्ञान के कर्म तो बन्धन का कारण होता है अर्थात् बिना ऊँची निष्ठा के कर्म के द्वारा बन्धन ही तो होता है। कर्म की समाप्ति जाकर ज्ञान में ही होती है।

भक्ति? यह ज्ञान और भक्ति एक ही रूप हैं। ज्ञानी ही तो परम भक्त है। ज्ञान का ही भावमय स्वरूप भक्ति होती है। भक्ति का प्रेमाद्वैत ही तो ज्ञान है। ऊपर भी तो कहा है कि बुद्धिगत बोध तो पर्याप्त नहीं। ज्ञान तो तभी सच्चा ज्ञान है जब बुद्धि से परे की चेतना जग जाये। प्रभु ने कहा –

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ 7/17 ॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ 7/18॥

'यह सभी उदार हैं। (परन्तु) ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है। वह मुझसे युक्त आत्मा सर्वोत्तम गति स्वरूप मुझ पर ही टिका है॥ 7/18 ॥

अतः ज्ञान तो भक्ति ही है। ज्ञानी तो भक्त ही है। जो प्रभु को जानता नहीं, वह भक्त कैसा! भक्ति अन्धी नहीं होती, उसकी आँखें दिव्य होती हैं। वह भ्रम के, मोह के, अन्धकार के पार देख सकती है। वह सन्देह से परे अटल निष्ठारूप होती है। उसका आधार होता है अनुभवी सन्तों का उपदेश।

प्रभु ने कैसी समझ पैदा की है। ब्रह्म विषय का ज्ञान तो भक्ति ही है। उसे जान जाये और फिर जीवन उसके अर्पण किये बिना रह सके, यह हो नहीं सकता। वह तो इतना हमारा है कि उसके हुए बिना रहा नहीं जाता।

ज्ञान भक्ति है और भक्ति ज्ञान है। कैसा अद्भुत समन्वय है कैसी अलौकिक दृष्टि है! कैसा उदार दर्शन है। और ज्ञान प्राप्त कैसे होता है? क्या तत्वदर्शी का उपदेश ही पर्याप्त है? तत्वदर्शी का उपदेश तो साधना का आरम्भ है। वह तो रास्ता पाने के लिए है। इसकी प्राप्ति स्वयमेव हो जाती है योग में सिद्धि लाभ होने पर। यह योग तो वही योग है जिसकी चर्चा हो रही है। कर्मयोग अथवा कर्मब्रह्मार्पणयोग?

जैसे व्यक्ति नैनीताल की सड़क पकड़ने मात्र से नैनीताल नहीं पहुँच जाता। ऐसे ही केवलमात्र तत्त्ववेत्ता से ज्ञान के उपदेश को लाभ कर तत्त्ववेत्ता नहीं होता, वह तो रास्ते पर आना मात्र है।

इससे यह स्पष्ट है कि ज्ञान कोई कोरा बौद्धिक ज्ञान नहीं, वह भीतर की ऊँचे चैतन्य की जगी हुई स्थिर अवस्था है। उसके परिणामस्वरूप सभी भूतों को आत्मा में और प्रभु में देखा जाता है, इसी से सभी कुछ ब्रह्ममय हो जाता है, उससे स्वतः दृष्टि सम हो जाती है। कर्मयोग उसी ज्ञान के लिए साधना है। इस साधना को करते-करते इसमें सिद्धि लाभ होती है। उस ज्ञान का अभ्युदय और इस साधना की सिद्धि समकालीन है।

कर्मयोग केवलमात्र तैय्यारी है, फिर संन्यास लेना होगा, जो ऐसा सोचते हैं, वर्तमान श्लोक उनके सिद्धान्त का अपोषक-प्रतीत होता है। कर्मयोग अपने में पूरा साधन है। ज्ञान के लिए अलग से किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं।

और आत्मा में ही प्राप्त होता है 'ज्ञान'। यह बाहर का ज्ञान नहीं, बुद्धि के द्वारा भीतर बसी हुई वस्तु नहीं। यह कोई निश्चय नहीं। यह आन्तरिक अनुभूति है, चेतना है।

कालेन-समय पाकर। पल भर में प्राप्त होने वाला, यह जादू का सा खेल भी नहीं है। यह तो रूपान्तर है भीतर, बाहर का। यह तो विकास क्रम में आने वाली एक आवश्यक स्थिति है।

इसी बात की पुष्टि छठे अध्याय में 27 तथा 28वें श्लोकों के द्वारा होती है। ब्रह्म-संस्पर्श भी तो यही है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति समदर्शी हो जाता है।

यह ज्ञान कब जग जाता है भीतर? कब इसकी प्राप्ति होती है भीतर, उस समय कैसी स्थिति हो चुकी होती है?

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ 39॥

'तत्पर, श्रद्धावान् तथा इन्द्रियों पर अधिकार लिए हुआ व्यक्ति ज्ञान को प्राप्त करता है। ज्ञान को लाभ कर देरी के बिना (ही), परा शान्ति को लाभ करता है' ॥ 39 ॥

34वें श्लोक में प्रणिपात से कहा था, वह उपदेश लाभ करने का उपाय है। परन्तु भीतर ज्ञान की प्राप्ति होती है जब श्रद्धा जग जाती है। श्रद्धा बौद्धिक धारणा नहीं होती। वह तो किसी के प्रति जगी हुई गहरी आदर तथा प्रेम की भावना होती है। वह कोरी भावना ही नहीं, उससे बहुत प्रबल, बहुत ही स्थिर तथा बहुत ही गहरी होती है। जिसके प्रति हम श्रद्धा रखते हैं वह हममें बसने लगता है। हम जुड़ जाते हैं उससे। श्रद्धा भीतर की निर्मलता से पुष्ट होती है, श्रद्धा की सम्भावना विश्वास की एक स्थिति की सूचक है। वह एक महान् रचनात्मक सामर्थ्य है।

किसके प्रति श्रद्धा? भगवान् के प्रति श्रद्धा और किसके प्रति श्रद्धा? ज्ञान के प्रति श्रद्धा? ज्ञान के प्रति श्रद्धा का तो कुछ अर्थ नहीं। क्या ज्ञान बोलता है? क्या वह हमारे प्रेम को स्वीकार करता है? क्या भगवान् का ज्ञान ही नहीं है ज्ञान? प्रभु के प्रति श्रद्धा जग जाने पर ही उसका बोध होता है। उसकी चेतना की प्राप्ति होती है। प्रभु प्राप्ति ही तो ज्ञान-प्राप्ति है।

अनन्य भक्ति ही उपाय है उसको लाभ करने का – श्रद्धा उसी की सूचिका है।

'तत्पर' – वही जिसके जीवन का मुख्य ध्येय हो गया है। उसी के लिये जीता है। प्रभु के लिये, ब्रह्म के लिए, ब्रह्म प्राप्ति के लिए। ज्ञान के लाभ के लिए।

यह ज्ञान कोई सस्ती वस्तु नहीं। इसका मूल्य है समूचे जीवन की बलि। जीवन में और किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा तृप्ति के लिये स्थान ही न रहे। एकमात्र वही रहे। उसी के लिए हों समूचे जीवन के व्यापार, जीवन की सूक्ष्म तथा स्थूल गति। यही तो अनन्यता होती है। इसके आये बिना लाभ नहीं होता। आँखें नहीं खुलती हैं।

*तत्परः का अर्थ ज्ञान-परः अथवा प्रभु-परः। इन दो में हमें कुछ अन्तर नहीं दिखाई देता। दूसरा स्पष्ट ठोस अर्थ रखता है। पहले का तात्पर्य होगा साधनपरः, योग-परः। साधना को जीवन में सबसे ऊँचा स्थान देने वाला। प्रभुपरः होने से यह तो स्वयं हो जाता है। उससे भी अधिक हो जाता है।

और तीसरा लक्षण – **संयतेन्द्रियः।** इन्द्रिय के संयम को पाये हुए। श्रद्धा जग जाती है और अनन्यता भी आ जाती है। इतने मात्र से इन्द्रियसंयम सिद्ध नहीं हो जाता, प्राणों पर अधिकार नहीं हो जाता। श्रद्धा तथा अनन्यता मन तथा बुद्धि को संयत कर देती हैं, रूपान्तरित कर देती हैं, परन्तु उत्पाती प्राण फिर भी इन्द्रियों को विचलित करते हैं। साधन करते-करते, प्रभु की कृपा क्रमशः प्राण को भी शान्त कर देती है। फिर निश्चलता सहजसिद्ध हो जाती है। फिर भीतर स्थिर निश्चलता छा जाती है। उस स्थिर निश्चलता में उदय होता है ज्ञान के सूर्य का। जैसे-जैसे निश्चलता आती है वह उगता आता है। पहले तो वह कभी प्रकट होता है कभी छिपता है। स्थिरता नहीं होती भीतर की चेतना की। क्रमशः ऊँची चेतना स्थिर रूप से उतर आती है इस मन और बुद्धि में। ज्ञान का लाभ होता है, प्रभु की सतत प्रतीति होती है, सर्वत्र प्रतीति होती है। भ्रमों की मार से परे हो जाता है मनुष्य।

और जब ज्ञान लाभ होता है शान्ति कहीं दूर रहती है? ज्ञान तो शान्ति को साथ लाता है। वह तो दासी की तरह, छाया की तरह पीछे आती है।

वह शान्ति कैसी ? पराशान्ति। जिस शान्ति में कभी विच्छेद की सम्भावना ही नहीं। सभी अशान्ति की सम्भावना, उद्वेगों की सम्भावना का नितान्त अन्त हो जाता है। अहं और उससे होने वाली विकार-परम्परा का मूलोच्छेदन होता है। यही अशान्ति के कारण होते है।

अशान्ति के कारण भीतर हैं। यही राग-द्वेष, काम-क्रोधादि, यही अहं, अशान्ति के कारण हैं। बाहरी परिस्थितियाँ तो इनको जागृत करने की निमित्त मात्र होती हैं। वह कारण नहीं हो सकतीं अशान्ति का। क्योंकि वही परिस्थितियाँ हमारे बदल जाने पर, हमारी प्रतिक्रिया की योग्यता के बदल जाने पर अशान्ति पैदा नहीं कर सकतीं। भीतर से अविकारी हो जाने पर विकार की जागृति ही कैसी ? और फिर अशान्ति कहाँ से ? यदि कोई भी परिस्थिति हमारे भीतर किसी प्रकार का विकार जागृत कर सकती है तो अभी शान्ति स्थायी नहीं, अभी ज्ञान का लाभ नहीं हुआ। अभी उसके दर्शन नहीं हुए, धोखा हो रहा है। जो प्रतीति है वह समग्र नहीं अधूरी है। यह कसौटी है जिस पर साधक अपनी स्थिति को सुगमता से तोल सकता है। वह कसौटी अचूक है।

इसकी नितान्त निवृत्ति होती है, विषयों का बन्धन समाप्त हो जाता है, अभाव समाप्त हो जाते हैं, भीतर की मांगें मिट जाती हैं।

वह शान्ति है जिसमें तनिक भी न कहीं से मांग है न हो सकती है। उसकी कोई सीमाएं नहीं हैं। व्यक्ति स्वयं शान्ति का स्तम्भ बन जाता है, शान्ति का उससे प्रसार होने लगता है, रोम-रोम से।

दुनियाँ शान्ति के लिए तड़पती है और शान्ति ढूँढती है। बाहर सभी चल है, वहाँ शान्ति कहाँ ? शान्ति का रास्ता भीतर है। जीवन को साधनामय कर देना होगा। प्रभु को लक्ष्य बनाना होगा, जीवन के द्वारा उसकी पूजा करनी होगी। एक दिन वह पराशान्ति का दिव्य द्वार स्वयं खुल जायेगा। उसके चरणों के बिना कहीं चैन नहीं है।

और जो साधना में भटकता है, उसकी गति ?

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥40॥

'ज्ञान रहित, श्रद्धा विहीन और संशयशील व्यक्ति भटक जाता है। जो संशयशील है उसका न यह लोक है, न परलोक है और न (ही) सुख है'॥40॥

संशयात्मा-संशययुक्त आत्मा वाला, जिसका स्वभाव ही संशय करने का हो गया है। जो हर विषय में सन्देह करता है।

बुद्धि भी तो ऐसा मकड़ी का जाला है जिसमें फँसकर निकलना कठिन हो जाता है और यह रात-दिन काम करती है। हाँ, कइयों की बुद्धि निद्रा में भी, स्वप्न में भी सहज रहती है। इस तरह की बुद्धि* एक मुसीबत हो जाती है। एक परेशानी हो जाती है। व्यक्ति चाहता है कि न सोचे परन्तु वह रुकती ही नहीं। यह तब होता है जब बुद्धि से परे चेतना की जागृति ही नहीं होती। जब हमारी अपनी सत्ता दब जाती है बुद्धिगत चैतन्य से।

मनुष्य बुद्धिवादी होने का दावा करता है हर विषय में। बुद्धि पर ही निर्भर होने लगता है, उसे अगवा बनाता है, उससे परे किसी को जानता नहीं, उसी की जीवन में पूजा करता है। वह इस बल को पाकर भूत बनकर सिर पर सवार हो जाती है। रात-दिन विचारों की, तर्कों-कुतर्कों की मालाएं पोई जाती हैं और उधेड़ी जाती हैं। यही खेल चलता है। वह जिसे हमने दासी करके पाला था, आज गृहस्वामिनी बनकर बैठी है। हमारे लिये भी उस घर में कोई ठौर नहीं रह जाता।

यह दशा कितनी शोचनीय है, इसका बिना अनुभव के अनुमान हो ही नहीं सकता। इसका अन्तिम परिणाम या तो नर्वस 'ब्रेक' डाउन में निकलता है या पागलखाने में निकलता है, हर ओर से विष का, शत्रु का, मृत्यु का भय सवार रहता है सिर पर। व्यक्ति अपना जीवन बरबाद कर देता है अपने ही हाथों। यह बुद्धि का व्यभिचार है और यह है उस व्यभिचार का परिणाम। यह संशयशीलता के विनाश की घोर तस्वीर है।

पर क्या संशय ही नहीं करना चाहिए ? क्या सोचना ही नहीं चाहिए ? आखिर भगवान् ने बुद्धि दी है, इसका उपयोग तो होना ही चाहिये।

हाँ, होना चाहिए, परन्तु ठीक उपयोग। जिस उपयोग का परिणाम है गड्ढा, वह ग़लत है। सोचना

किसी निर्णय पर पहुँचने और उसे कार्यरूप में परिणत करने के लिये होना चाहिये। सोचने के लिये सोचना और फिर सोचते ही चले जाना, यह बुद्धि का दुरुपयोग है। सोचते-सोचते व्यक्ति दिशा ही भूल जाता है। भूल जाता है सोचने का उद्देश्य। भूल जाता है कि जीवन में किसी निर्णय की मांग है, उस निर्णय के लिये सोचता हूँ। जहाँ विचारों का व्यावहारिक उपयोगिता से नाता टूट जाता है, वहाँ ही खतरा है। वह पागलपन की ओर पहला कदम है, वह विशुद्ध दर्शन खतरनाक है। उसकी कोई खूंटी नहीं, कोई बन्धन नहीं। अतः वह कहीं भी समाप्त नहीं होगा, व्यवहार हमारे विचारों की खाद हो और विचार हमारे व्यवहारों की। तभी विचारशक्ति का सदुपयोग हो सकता है, तभी संशयशीलता से बचता है। सोचना साधना के लिए जितना आवश्यक है उतना ही सोचना चाहिये। जब आवश्यक हो तभी सोचना चाहिये।

जब हम इस प्रकार बुद्धि की गति को सीमाबद्ध कर देंगे तो निर्णय लेना ही होगा, तो किसी बात पर टिकना ही पड़ेगा। फिर संशयशीलता नहीं रहती।

व्यर्थ का सोचना साधना-शक्ति का, समय का और शान्ति का हनन करना है।

इतना और, सभी कुछ बुद्धिगम्य नहीं है। बुद्धि की सीमाएं हैं। वह कुछ जान सकती है और कुछ नहीं जान सकती। कोई कितना भी कुशाग्रबुद्धि क्यों न हो, उसकी भी बुद्धि किसी क्षेत्र में गतिहीन हो जाएगी। घोड़ा कितना भी तेज क्यों न हो वह हवा में नहीं उड़ सकता। उसे चलने के लिये भूमि ही चाहिए, ठीक ऐसे ही। भगवान् के विषय में जानकारी बुद्धि का अविषय है। तर्क की यहाँ गति नहीं, इसलिए जो तर्क को आधार मानकर इधर या उधर निर्णय करते हैं वह दोलारूढ़ रहते हैं कभी नास्तिक कभी आस्तिक। रात को एक और प्रातः दूसरा, यह सिलसिला जीवन भर भी चल सकता है तर्क की जहाँ गति नहीं वहाँ निर्णय कैसे हो? जो बे-पैंदे का लोटा है सो टिके किस तरह? पर जो बुद्धि से परे कुछ ज्ञान का साधन ही नहीं सोच सकते हैं न ही मान सकते हैं वह बेचारे लाचार हैं और उनकी वैज्ञानिकता कहती है बिना प्रमाण के मानो नहीं। प्रमाण भी प्रत्यक्ष ही होना चाहिये। हमें भगवान् दिखाओ तो हम मानें, ऐसे अभागों पर दया ही करनी चाहिये। उनके लिये प्रभु से सद्बुद्धि की प्रार्थना ही करनी चाहिये। उनसे तर्क न करना चाहिये, क्योंकि वही तो उनका रोग है। जीवन की कोई चोट शायद उन्हें हिला सके अपने इस दुःस्वप्न में से।

जो बुद्धि का विषय नहीं, उस विषय में तो जानकारों की बात को मानना ही होगा। सभी जानकारों के पीछे चलने से भी परेशानी हो सकती है, क्योंकि रास्ते अनेक हैं। अपने रास्ते को चुनकर, उस रास्ता दिखाने वाले की बात माननी होगी। इस विश्वास के बिना साधना न चलेगी।

संशय हमारे किये कराये पर पानी फेर देता है। प्रभु कृपा के लिये द्वार बन्द कर देता है। संशय के अभाव के लिये सोचना बन्द करना सीखना होता है। अवांछित विचारों की दृढ़ता से उपेक्षा करते जाना होता है। आज के पठित व्यक्ति के लिये संशय के पार जाना एक ऊँची घाटी है।

जो अज्ञ है, मूर्ख है, कुछ न जानता हुआ भी अपने को जानने वाला समझता है, वह मूर्ख ही होता है। न जानना तो कोई बड़ी डरने वाली बात नहीं। जो न जानता है, और न यह जानता है कि मैं नहीं जानता, उल्टा अपने को जानने वाला समझता है, वह तो बेचारा अपने द्वार को बन्द करके बैठा है। दीवार से सिर लगाये उसे धकेल रहा है। सोचता है मैं तो चला जा रहा हूँ। संशयात्मिकता मूर्खता से मेल-जोल रखती है। जो सिर झुक जाता है किसी के आगे उसके संशय तो निवृत्त हो जाते हैं। जो झुकता नहीं वही तो संशयात्मा बना रहता है। जो ज्ञानी है (अपनी दृष्टि में) भला उसमें क्या समा सकेगा? संशयात्मा होना अग्रहणशीलता का परिचायक है, संशयात्मा श्रद्धादि-रहित होता है। उसमें विचारों की ही स्थिरता नहीं है। वहाँ भावों की स्थिरता और गहराई कैसे सम्भव है? भावों की स्थिरता और गहराई के बिना श्रद्धा कैसी? प्रभु-चरणों में प्रेम कैसा? लगन कैसी? कुछ प्राप्ति कैसी?

श्रद्धारहित होना, संशयात्मा होना दुर्भाग्य है। जीवन

की ऊँची सम्भावनाओं के सोते बन्द पड़े रहते हैं। जीवन नीरस होता है। किसी बात में भी तो रस नहीं। भोगों में विश्वास हो तो भोगों को ही भोगकर व्यक्ति क्षणिक सुख लाभ कर सकता है। पर जो हर विषय में सन्देह करता है, उसकी क्या गति? भोग भोगने चाहियें या नहीं चाहियें, इसी चक्कर में जीवन व्यतीत कर देता है। लोगों के विषय में संशय होता है, यह सच्चा है या झूठा है। इसी संशय के अधीन व्यक्ति समुचित व्यवहार ही नहीं कर पाता। कोई चित्र नहीं बना पाता जिसके सामने दिल खोल सके। पत्नी के बारे में संशय, पुत्र के बारे में संशय, खाने-पीने के बारे में संशय-इस डोरी का कोई अन्त थोड़ा ही होता है। यह तो बीमारी है और व्याप्त हो जाती है जीवन के हर क्षेत्र में। कहीं भी तो श्रद्धा रह नहीं पाती।

सो ऐसे व्यक्ति को संसार में भी सुख नहीं। उसकी शक्तियों के लिये कोई क्षेत्र ही नहीं खुल पाता। हृदय के भावों का कोई पात्र ही नहीं दीखता संसार भर में। हर जगह बुराई दिखाई देती है, दम्भ नज़र आता है। कष्ट दीखता है। हर काम में सन्देह होता है; अत: व्यक्ति अपने को कहीं लगा नहीं पाता। जो जीवन में दूसरों को, समाज को दे नहीं पाता वह चैन में नहीं रह सकता। जिसकी शक्तियों के लिये क्षेत्र नहीं खुलते उसे विकलता होगी। वह समूचे जीवन में तिल भर आगे न बढ़ पायेगा।

संशयात्मिकता एक भयानक रोग है। यह क्षय की भाँति भीतर ही भीतर खा जाता है।

जिसने अपने जीवन का ऐसा दुरुपयोग किया है उसका भविष्य क्या होगा? काला, अन्धकारमय। जो ऊँचा कृत्य हम करते हैं, जो प्रेम करते हैं, सेवा अथवा त्याग करते हैं, वही तो ऊँची गति का कारण होता है, शरीर छोड़ने के उपरान्त। जैसी हम श्रद्धा रखते हैं, वैसे ही लोक को तो पाते हैं।

जो श्रद्धा विरहित है उसका तो किया कराया यहीं भस्म होता है –

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥17/28॥

अश्रद्धा से किया गया होम, दिया गया दान, किया गया तप और जो भी कर्म है, हे अर्जुन! वह असत् है। न मर कर फलवान् है, न यहाँ ही। श्रद्धा से सत्कर्म करने से सन्तोष होता है, शान्ति होती है। एक प्रकार का सुख होता है। कर्म कितना भी भला क्यों न हो, बिना श्रद्धा से करने पर सुख लाभ नहीं होता। व्यक्ति वैसा ही रूखा सा बना रहता है। सो श्रद्धा का अभाव इस लोक को सुखहीन, उत्साह-हीन कर देता है। परलोक तो अपने आप ही बिगड़ता है।

संशय से इस लोक में कुछ नहीं, परलोक भी अन्धकारमय। संशयात्मा को तो सुख हो ही नहीं सकता।

सामान्य सुख तो हमारे जीवन के प्रति प्रतिक्रिया का परिणाम है। जो जीवन की परिस्थितियों को हँसते-हँसते प्रभु से स्वीकार कर सकता है, वह 'परेशानी' में भी सुखी रहता है। जो डरता है दु:ख से, और बिना उसके आप ही प्राण निकालने लगता है वह अकारण ही दु:खी बना रहता है।

दूसरा, हम क्या दे पाते हैं, क्या कर पाते है, जीवन को कैसे बरततें हैं, इस पर निर्भर करता है सुख। जो खूब लगन से कार्य कर सकता है, वह काम करने से सुख पा लेता है। जो दूसरों से प्यार कर सकता है वह उस प्यार से सुख पा लेता है, जो दूसरों की सेवा कर पाता है वह उससे सुख पा लेता है।

तीसरा, हमारे दु:ख-सुख का पैमाना हमारी मांगें होती हैं। जितना हम मांगते हैं और जितना मिलता है इनके अनुपात पर हमारा सुख-दु:ख निर्भर करता है। लाख की मांग करने वाले को दस हजार की प्राप्ति दु:खमय होगी। नब्बे हजार के घाटे का दु:ख होगा? परन्तु हजार की मांग हो और दस हजार की प्राप्ति हो जावे तो अपार सुख होगा। समझदार आदमी रास्ता निकाल सकता है।

पर संशयात्मा की परेशानी तो यह है कि वह दु:खी भी नहीं होता तो सुखी भी नहीं होता। वह दु:ख सुख से परे भी नहीं है। एक विचित्र शून्य में है। जैसे बन्द कमरे में दम घुटता है, ऐसी स्थिति होती है। एक

भयावह अभाव-सूनापन ही जीवन को खाये जाता है। घोर निराशा अथवा जीवन में भयंकर चोट लगने के परिणामस्वरूप भी यह स्थिति आती है जब हिल जाती है चिर स्थापित श्रद्धा। व्यक्ति संशयशील हो जाता है जीवन के ऊँचे मूल्यों की ओर से।

संशयशीलता में साधना कैसी? संशयात्मा सर्वथा दयनीय है। करुणा का पात्र है।

अर्जुन की स्थिति कैसी थी? वह भी अपने जीवन के खूंटे को खो बैठा था। वह भी 'धर्मसंमूढ़चेता' था (2/7)। उसके विषाद का मूल कारण यही था कि चिर-स्थापित क्षात्र-धर्म के प्रति जो श्रद्धा थी वह हिल गयी थी, जिसका कभी उस वीर क्षत्रिय के जीवन में महान् स्थान रहा था।

दूसरे अध्याय का 66वाँ श्लोक यहाँ पढ़ना अनुचित न होगा।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।

इस प्रसंग को समाप्त करते हुए किस परिणाम पर पहुँचते हैं भगवन्!

(क्रमशः)

1.5.2021 से 15.8.2021 तक के दानदाताओं की सूची

साधकगण अपने दान की राशि चैक द्वारा निम्नलिखित बैंक खातों में जमा करवा सकते हैं।

Swami Ramanand Sadhna Pariwar
Bank of India, Haridwar
A/c No.: 721010110003147
I.F.S. Code: BKID0007210

Swami Ramanand Sadhna Pariwar
Punjab National Bank, Haridwar
A/c No.: 00112010000220
I.F.S. Code: PUNB0001110

कृपा करके जमा करवाई हुई राशि का विवरण एवं अपना नाम और पता पत्र अथवा फोन द्वारा साधना धाम कार्यालय में अवश्य सूचित करें। जिससे आपको रसीद आसानी से प्राप्त हो जायेगी।

– **विष्णु अग्रवाल,** प्रबन्धक, साधना धाम, मोबाइल: 8273494285

1.	श्री हरपाल सिंह राजपूत, हरिद्वार	5000	
2.	श्रीमती ज्ञानवती शुक्ला, कानपुर	5100	
3.	श्रीमती सुनीति देवी अग्रवाल, पीलीभीत	5000	
4.	श्री अंकुर अग्रवाल, मेरठ	2100	
5.	डॉ. आकांक्षा अग्रवाल, मेरठ	2100	
6.	श्री रोहित कुमार भाटिया, मेरठ	3000	
7.	श्री हरपाल सिंह राजपूत, हरिद्वार	5000	
8.	श्री अनिरुद्ध अग्निहोत्री, रुड़की	2100	
9.	श्रीमती सुमन त्रिपाठी, कानपुर	2100	
10.	श्रीमती आशा वर्मा, कानपुर	2100	
11.	श्रीमती मुन्नी गुप्ता, बालामाऊ	3100	
12.	श्री राम सिंह, हरिद्वार	3000	
13.	श्रीमती दक्ष खण्डेलवाल, नई दिल्ली	2100	
14.	श्री सुनील कान्त अग्रवाल, पीलीभीत	5000	
15.	श्री सुरेन्द्र कुमार अग्रवाल, बीसलपुर	5100	
16.	श्री मनोज गुप्ता, बीसलपुर	5100	
17.	श्री विष्णु गोयल, बीसलपुर	3100	
18.	श्री आलोक मित्तल, बीसलपुर	2100	
19.	श्रीमती सुनीति देवी अग्रवाल, पीलीभीत	5000	
20.	श्री राकेश कुमार, पीलीभीत	2501	
21.	श्री पवन कुमार सिंह, जयपुर	5100	
22.	श्री मीना बिजलवान, हरिद्वार	2100	
23.	श्री सुनील कान्त अग्रवाल, पीलीभीत	5000	
24.	श्रीमती सुनीति देवी अग्रवाल, पीलीभीत	5000	
25.	श्री रविशंकर वाजपेयी, कानपुर	6500	
26.	श्रीमती अर्चना मिश्रा, कानपुर	2500	
27.	श्रीमती उषा गुप्ता, गाजियाबाद	2100	
28.	श्री हरपाल सिंह राजपूत, हरिद्वार	5000	
29.	श्री कृष्ण औतार अग्रवाल, बीसलपुर	11000	
30.	श्रीमती दिशा खण्डेलवाल, नई दिल्ली	3100	

(शेष सूची पृष्ठ 42 पर)

श्री गुरुदेव निर्वाण-दिवस साधना शिविर-2021
14 से 21 अप्रैल 2021

श्री गुरुदेव निर्वाण-दिवस साधना शिविर-2021 की अवधि में प्रसारित प्रवचन व भजनों में से जो साधना पत्रिका के पिछले अंक के प्रकाशन तक प्राप्त हो सके उन्हें उस अंक में प्रकाशित किया गया था। उसके बाद प्राप्त प्रवचन व भजन इस अंक में प्रकाशित किये जा रहे हैं।

प्रवचन सार

श्रीमती कुसुम सिंह

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णो गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः॥

अप्रैल शिविर चल रहा है, गुरुदेव महाराज की कृपा अनवरत हम सभी पर बरस रही है। मन आनन्द व खुशी से हिलोरे खा रहा है। शिविर का आनन्द वर्णनातीत है। भक्तों की चर्चा चल रही है। इसी विषय में 12 अध्याय के 13 श्लोक में भगवान बता रहे हैं –

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुखःसुखः क्षमी॥

अद्वेष्टा – भगवान का भक्त सभी भूत प्राणियों में द्वेषभाव से रहित होता है सभी से प्रेम करता है क्यों कि मैंपन से रहित होता है – अपना पराया उसके लिये होता ही नहीं है क्योंकि जहाँ राग है वहाँ द्वेष जरूर होता है। वह सभी प्राणियों में भगवान के दर्शन करता है।

मैत्रः – वह सभी में मित्र भाव वाला होता है, मित्र को मित्र के छिद्र दोष तो दिखते ही नहीं हैं। भगवान तो सभी को अपना मित्र ही समझते हैं, अर्जुन को अपना मित्र मानते हैं, ये सुदामा के पैर चाप देते हैं। भगवान तो किसी को अपने से नीचा नहीं समझते हैं, अपने से ऊँचा बनाना चाहते हैं।

करुण – दयालु भी होता है। भगवान का भक्त सभी के प्रति दया भाव रखता है। सभी के प्रति उदार होता है चाहे कोई कैसा ही क्यों न हो।

निर्ममो – ममता यानि आसक्ति से रहित होता है। अपने सगे परिवारीजन और दूसरों से समान व्यवहार करता है।

निरहङ्कारः – अहंकार से रहित होता है भगवान का भक्त। उसे अपने कर्तव्य कर्म का, रूप, गुण, पद, किसी चीज़ का अहंकार नहीं होता है। वह सभी को प्रभु की देन समझता है। जन, पद, धन, इत्यादि में वह फूला फूला नहीं फिरता है।

समदुःखःसुखः – वह दुःख में व्याकुल नहीं होता है और सुख में सम तथा शान्त रहता है। दोनों को प्रभु की देन समझकर खुशी-खुशी स्वीकार करता है।

क्षमी – वह क्षमावान होता है जैसे कि अपने से गलती हुई है। हम सुधार करते हैं वैसे ही दूसरे की गलतियों को क्षमा करता है। न ही हम पूर्ण हैं न ही सामने वाला पूर्ण है। भक्त की दृष्टि में एक भगवान के सिवाय कुछ है ही नहीं। फिर किससे वैर करें किससे प्रेम –

निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं बिरोध
(**सर्वभूत हिते रतः** की भावना होती है)

आगे 12 अध्याय के 14 श्लोक में भगवान बता रहे हैं –

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

भगवान का भक्त निरन्तर सन्तुष्ट रहता है। सहज में प्राप्त हुए से सन्तुष्ट रहता है।

4 अध्याय का 22 श्लोक –

यदृच्छालाभ सन्तुष्टो – भगवान को धन्यवाद देता है अनुकूलता प्रतिकूलता में। अनुकूलता भगवान की कृपा है प्रतिकूलता भगवान की इच्छा है।

यतात्मा – आत्मा को अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियों को अपने वश में रखता है। आत्मा में हमेशा सन्तुष्ट रहता है।

दृढ़निश्चयः – दृढ़ निश्चयी होता है। वह जान जाता है कि भगवान के भजन के सिवाय और कुछ है ही नहीं।

सततं – लगातार वह भगवान का भजन करता है। वही एक हमारे हैं, उन्हीं से हमारा सर्वोत्तम नाता है।

मय्यर्पितमनोबुद्धि – मन, बुद्धि वह मेरे अर्पण कर देते हैं। मन, बुद्धि के द्वारा वह स्वयं भगवान से जुड़ा रहता है। भगवान कहते हैं कि ऐसा भक्त मुझे अति प्रिय है जो जीवन में सभी कुछ को भगवान से स्वीकार करता है। संयोग वियोग, मान अपमान, लाभ हानि, यश अपयश सभी प्रभु का मंगलमय विधान है। भगवान की भक्ति के समान दूसरा कोई है ही नहीं भक्त की नज़र में –

राम कृपा नासहिं सब रोगा।
जौं एहि भाँति बनै संजोगा॥
रघुपति भगति सजीवन मूरी।
अनूपान श्रद्धा मति पूरी॥

❖ ❖ ❖

गुरु पूर्णिमा - गीत

(गुरुवार 27 जुलाई 1961 को आदरणीय पण्डित शीतलाशंकर जी अवस्थी (बाबू जी) के यहाँ प्रति वर्ष की भाँति होने वाली व्यास-पूजा के शुभ अवसर पर श्री गुरु-चित्र के समक्ष इस नवीन गीत-पुष्प का समर्पण हुआ था। स्थानीय साधक बन्धुओं में श्री स्वामी जी के विशेष कृपा पात्र श्री लक्ष्मी शंकर जी अवस्थी 'राजा', एम.ए. ने गीत के प्रायः सभी पुष्पांकित शब्दों पर प्रकाश डालते हुए बीज शब्द की विस्तृत व्याख्या की थी। अन्य साधकों के लाभार्थ यह गीत इस अंक में भी प्रकाशित किया जा रहा है।)

श्रेष्ठ 'श्रीराम' के नाम, जप, ध्यान से,
एक होकर अनेकों के मन धो गये।
पूज्य गुरुदेव! सबको जगाकर स्वयं-
सर्वदा के लिए आप क्यों सो गये?
मानता हूँ हमें सत्य समझा चुके,
सेवा कह कर नहीं, करके दिखला चुके,
प्रीति के पथ में केवल बदल दृष्टि दी-
शान्ति-सुख की नई शैली सिखला चुके;
फिर भी 'निर्भीक' प्रत्यक्ष होकर निकट-
आके पारस-सदृश क्यों अदृश हो गये।
पूज्य गुरुदेव!
साधकों के लिए दिव्य कर्षण कहाँ?
साधना में सजग रोमहर्षण कहाँ?
प्यार परिवार में सम सभी के लिये-
मंजु मुस्कान का स्नेह-वर्षण कहाँ?
ओह! सम्पूर्ण सामर्थ्य लेकर हमें,
गुरु अचानक मिले, मिलके फिर खो गये?
पूज्य गुरुदेव!
देव! गुरु-पूर्णिमा का है अर्पण यही,
वर्ष-प्रति-मास, प्रति-दिन का तर्पण यही,
प्रभु-पदों के सतत-स्मरण के सहित-
जन्म-तिथि, पुण्य-तिथि का समर्पण यही।
पल्लवित और पुष्पित, फलित वह रहे-
बीज जो हम सबों के लिए बो गये।
पूज्य गुरुदेव

- ओम शंकर जी शुक्ल निर्भीक

श्री गुरु पूर्णिमा शिविर-2021
21 से 25 जुलाई 2021

गुरु पूर्णिमा शिविर का शुभारम्भ साधना धाम हरिद्वार में दिनाक 2। जुलाई 2021 को हुआ। आंशिक लॉकडाउन के कारण केवल 50 साधकों ने शिविर में भाग लिया। 21 की रात्रि से अखण्ड जाप आरम्भ हुआ जिसकी पूर्ति 25 को प्रातः 5.00 से 6.00 बजे के सामूहिक जाप के साथ हुई। पुनः 22 की रात्रि से 36 घण्टे का जाप आरम्भ हुआ जिसकी पूर्ति 24 को प्रातः सामूहिक जाप के साथ हुई। उसके बाद गुरु पूर्णिमा, गुरु पूजन, माल्यार्पण, प्रसाद वितरण आदि विधि पूर्वक किये गये। उसी दिन कार्यकारिणी की बैठक हुई जिसका विवरण अलग से दिया जा रहा है।

दोपहर की सभा में शिविर सम्बन्धी कार्यवाही हुई। उसी सत्र में एक साधक श्री रमेश चन्द्र गुप्त 'विनीत' द्वारा संकलित 'गीता-प्रवेशिका' नामक पुस्तक का विमोचन करके श्री गुरु महाराज के चरणों में समर्पित की गई।

दिनांक 25 जुलाई को शिविर की पूर्ति तथा साधकों की विदाई हुई।

इस शिविर में श्री गुरु महाराज के वरद् हस्त का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। जिस प्रकार उन्होंने सभी साधकों को अपनी शरण में लेकर शिविर का संचालन किया। न किसी भी वस्तु का अभाव हुआ, न व्यवस्था में कोई कमी रही। हाँ, साधना परिवार के प्राणप्रिय पूर्व अध्यक्ष दिवंगत श्री ओम प्रकाश सेखड़ी जी की अनुपस्थिति से सभी साधकगण विक्षिप्त अवश्य रहे।

प्रवचन सार

श्री दीपक दीक्षित जी

गुरु चरणों में बैठकर जो क्षण बिताये जाते हैं वही सार्थक हैं। सद्गुरु ने जो हमको चुना है, हम बहुत भाग्यशाली हैं। ऐसे गुरु का गुरु पूर्णिमा के अवसर पर जो सान्निध्य मिला है यह बहुत ही दुर्लभ है।

समय भी सिखाता है, गुरु भी सिखाता है। समय पहले परीक्षा लेता है फिर सिखाता है। गुरु पहले सिखाता है कि किस परिस्थिति का सामना किस प्रकार किया जाये।

गुरु-दीक्षा के बाद परिवर्तन तो आना ही चाहिये। हम उतने विचलित नहीं होते विपरीत परिस्थितियों में।

गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान से ही हम अपने जीवन को आलोकित करते हैं। बिना गुरु वाले तो कामनाओं के बोझ से दबे रहते हैं। गुरु मौन नहीं रहते, वो ज्ञान बाँटते हैं। जो हमें प्राप्त हुआ है।

गुरु पूर्णिमा आषाढ की पूर्णिमा को क्यों मनाई जाती है। आषाढ का कृष्ण पक्ष बहुत घना होता है। यह अन्धकार हम शिष्यों के जीवन में फैला है। इसी को मिटाने के लिये गुरु का आगमन होता है।

परमात्मा सूर्य है, गुरु चन्द्रमा है। सीधे सूर्य को देखना सम्भव नहीं होता है, चन्द्रमा के माध्यम से देखा जा सकता है।

गुरु के समक्ष प्रस्तुत होना ही तो शून्य में जाकर होना है। कोई पूर्वाग्रह नहीं होना चाहिये।

गुरु द्वारा वह होता है जहाँ जाकर श्रद्धा से मस्तक नत हो जाता है, प्रेमाश्रुओं की झड़ी लग जाती है। जहाँ से जाकर पता लगे कि नीरस जीवन रस से परिपूर्ण हो जाये।

श्री पुरन्दर तिवारी जी

समर्पण - गुरुदेव के साहित्य का अन्तिम बिन्दु है - पूर्ण समर्पण।

समर्पण की बात करते हैं - समर्पण करते नहीं हैं।

उद्देश्य निर्धारित करना है - पूणर्त्व की प्राप्ति करनी है। जब तक मैं है तब तक पूर्ण समर्पण नहीं है।

शरणागति समर्पण नहीं है। शरण में आता है आर्त होकर जैसे सुग्रीव और विभीषण। समर्पण है भरत जी का और हनुमान जी का।

प्रभु पहिचान गहेहु प्रभु चरना।
सो सुख उमा जाहिं नहिं बरना॥

लक्ष्मण का भाव दास्य भाव था, प्रभु के हृदय का भाव नहीं जानते थे, हनुमान जी और भरत जी जानते थे।

समर्पण प्रेम के बिना नहीं होता जिसमें सर्वस्व दे दिया जाता है जिस प्रकार माता का पुत्र के प्रति होता है।

प्रेम कैसे मिलता है -

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

मन कैसे निर्मल हो।

महाराज जी कहते हैं मन निर्मल होता है राम नाम से।

प्रेम का अर्थ है केवल देना ही देना।

श्री विजयेन्द्र भण्डारी जी

गुरु हमारा सम्बन्ध जोड़ते हैं, परम सत्ता से। कामनाओं की पूर्ति के लिये जो आते हैं उनकी कामनायें पूरी तो हो जाती हैं किन्तु वे क्षण-भंगुर होती हैं। जो प्रभु को पाने के लिये आते हैं उसका क्षय नहीं होता। उसका प्रेम हृदय में प्रकट हो जाता है। प्रभु निराकार हैं परन्तु रचना साकार की करता है। यह सब उसकी लीला है।

परमात्मा समुद्र हैं, हम बूँद हैं। जब उसमें समा जायेंगे तो हम भी समुद्र हो जाते हैं।

पछताना छोड़ दें। गुरुदेव के वचनों को जीवन में उतारें। कष्टों को कर्मों का फल मान कर सन्तुष्ट रहें।

❖ ❖ ❖

साधना परिवार की कार्यकारिणी की बैठक का विवरण

दिनांक 24 जुलाई, 2021 को पूर्वान्ह 11 बजे हुई कार्यकारिणी की बैठक साधना धाम के कार्यालय में सम्पन्न हुई जिसमें निम्नलिखित सदस्यों ने भाग लिया:-

1. श्रीमती रमन सेखड़ी, अध्यक्ष
2. श्री विजयेन्द्र भण्डारी, सचिव
3. श्री विष्णु गोयल, उपसचिव
4. श्री अनिरुद्ध अग्निहोत्री, कोषाध्यक्ष
5. श्री सुधीर कान्त अग्रवाल, सदस्य
6. श्री रमेश चन्द्र गुप्ता, सदस्य
7. श्री हरपाल सिंह, राजपूत, सदस्य
8. श्रीमती कृष्णा भण्डारी, सदस्य
9. श्रीमती कमला वर्मा, सदस्य
10. श्रीमती सोमवती मिश्रा, सदस्य
11. श्री पुरिन्दर तिवारी, विशेष आमन्त्रित सदस्य
12. श्री संजय सेखड़ी, विशेष आमन्त्रित सदस्य
13. श्री सुमीत सेखड़ी, विशेष आमन्त्रित सदस्य

बैठक प्रारम्भ होने से पूर्व निम्नलिखित एजेण्डा बिन्दु निश्चित किये गये।

1. श्री ओम प्रकाश सेखड़ी जी के देहावसान के

बाद कार्यकारी अध्यक्षा श्रीमती रमन सेखड़ी जी को स्वामी रामानन्द साधना परिवार के सभी बैंक खातों अर्थात् हरिद्वार एवं दिगौली (अलमोड़ा) में एक हस्ताक्षरकर्ता के रूप में नियुक्त करना।

2. धाम में छोटे-मोटे मरम्मत कार्य तथा रसोई घर में पानी के रिसने की समस्या का समाधान कराना।
3. बरामदों एवं कमरों में फर्श कराने पर विचार करना।
4. धाम के सेवकों एवं डिस्पेंसरी के डॉक्टरों के मानदेय में वृद्धि करना।
5. पत्रिका के मुद्रण हेतु निर्णय लेना।
6. दिगौली धाम में रसोई घर का निर्माण कराना।
7. पिछले कोरोना काल में दिवंगत हुए साधकों को श्रद्धांजलि देना।
8. कार्यकारी अध्यक्षा जी की आज्ञा से अन्य कोई विषय हो तो उस पर चर्चा करना।

उपरोक्त एजेण्डा बिन्दुओं पर चर्चा के पश्चात् निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किये गये:-

1. सभी उपस्थित सदस्यों ने सर्वसम्मति से यह निर्णय लिया कि कार्यकारी अध्यक्षा श्रीमती रमन सेखड़ी जी को स्वामी रामानन्द साधना परिवार के सभी बैंक खातों में श्री ओम प्रकाश सेखड़ी जी के स्थान पर एक हस्ताक्षरकर्ता के रूप में नियुक्त किया जाये। यह प्रक्रिया अति शीघ्र पूरी कर ली जाये तथा इस निर्णय की एक प्रति सभी सम्बन्धित बैंकों को उपलब्ध करा दी जाये।
2. धाम में लकड़ी, लोहे, सीमेंट एवं बिजली से जुडा छोटा-मोटा मरम्मत का कार्य अति शीघ्र करा लिया जाये तथा रसोईघर में पानी के रिसने की समस्या को दूर करने के लिये अभी छोटे स्तर पर मरम्मत कार्य कराया जाये तथा बरसात के बाद खुदाई आदि कराके रिसने की समस्या को स्थाई रूप से समाप्त किया जाये। कमरा संख्या 23 के स्नानगृह की खिड़की बदलवा दी जाये तथा दीमक का उपचार कराया जाये।
3. धाम में बरामदों में पड़ने वाले पत्थर का कार्य पहले पूरा करा लिया जाये तथा बाद में कमरों के अन्दर का पत्थर लगवाया जाये।
4. सर्वसम्मति से यह निर्णय लिया गया कि कार्यकारी अध्यक्षा, सचिव एवं उपसचिव की एक समिति धाम के सेवकों एवं डिस्पेंसरी के डॉक्टर्स के मानदेय को बढ़ाने का निर्णय लेगी लेकिन यह मानदेय वृद्धि अप्रैल 2021 से लागू की जायेगी।
5. पत्रिका के मुद्रण हेतु यह निर्णय लिया गया कि जुलाई-सितम्बर, 2021 अंक के साथ ही पत्रिका मुद्रण का कार्य पुनः आरम्भ कर दिया जाये। जुलाई-सितम्बर 2021 का अंक उन साधकों को स्पीड पोस्ट अथवा कोरियर द्वारा निःशुल्क भेजा जाये जिनको पत्रिका मिलने में कठिनाई होती है तथा इसके बाद के अंकों के कोरियर अथवा स्पीड पोस्ट का व्यय साधकों को स्वयं ही वहन करना होगा। जिन साधकों तक पत्रिका सरलता से पहुँच जाती है उनको साधारण डाक से प्रेषित कर दी जाये।
6. दिगौली धाम में रसोई घर के निर्माण का कार्य सितम्बर माह में बरसात के बाद प्रारम्भ कराया जायेगा। इसके लिये एक समिति का गठन होगा जो रसोई घर के निर्माण पर विभिन्न निर्णय ले सकेगी।
7. पिछले कोरोना काल में दिवंगत हुए सभी साधक-साधिकाओं को दो मिनट का मौन रखकर श्रद्धांजलि दी गयी तथा इसके साथ ही स्वामी रामानन्द साधना परिवार की कार्यकारिणी की बैठक की पूर्ति पूज्य गुरुदेव को भोग लगाकर हुई।

रमन सेखडी
कार्यकारी अध्यक्षा

विजयेन्द्र भण्डारी
सचिव

जीवन की ऊँची नीची घाटियों में तुम्हारे साथ हूँ

उपरोक्त वाक्य थे श्री स्वामी जी के प्राय: अपने प्रत्येक साधक के प्रति। केवल आश्वासनार्थ ही यह शब्द न थे। उनमें थी सजीवता और अकाट्य प्रगाढ़ सत्य। प्रत्येक की स्थिति अनुसार उनका अगाध स्नेह था प्रत्येक के प्रति। प्राणी उनके इस आधार पर अपने को निश्चल खड़ा पाता था और पाता था अडिग, अचंचल और धीर। सत्य सत्य ही होता है। देश, काल एवं परिस्थितियों की परिधि में वह बाँधे नहीं बँधता। उसकी गति अबाध, अगाध, अगम तथा गम्भीर होती है और जिसके जीवन में वह सत्य प्रकाशमान हो जाये वह सत्य का सूर्य ही बन जाता है। जगत प्रकाशित होता है उसकी गतिविधियों से, सत्य और केवल सत्य ही निकल पाता है उसकी वाणी से अथवा यों कहिये सत्य और वाणी में भेद नहीं रह पाता।

कौन रह पायेगा अन्यथा साथ जीवन की ऊँची नीची घाटियों में? विकास पथ के इस पथिक प्राणी को, जो लिये जा रहा है उंगली सी थामे हुए। ठोकर खाते देख उसकी आँखों में करुणा बरसने लगती है, गलती करते देख वह मानो आँख बन्द कर लेता है जैसे प्राणी की गलती उसने देखी ही नहीं, घबराते देख वह हंस कर मानो कहता है कि घबराना क्यों, आगे ही बढ़ोगे और आगे बढ़ते देख उत्साहित करता है। सुख में अपना नाम रटाता है, दु:ख में नाम की गति तीव्र करता है। ऐसे ही क्रम से शनै:-शनै: शान्ति के महासागर में डुबकियाँ भी लगवाता है।

स्वामी जी की साधन प्रणाली का लक्ष्य है ''आत्म समर्पण''। समर्पण की चर्चा का विषय गूढ़ है। आज हम चर्चा करेंगे कि समर्पण की स्थिति की प्राप्ति का मार्ग क्या है?

संस्कारों से घनीभूत मानव का अस्तित्व है। वह संस्कार इस जन्म के हैं, पिछले जन्म के हैं अथवा उससे भी पहले अनेकानेक जन्मों के। हमारे कार्यकलापों का उद्‌गम भी हमारे संस्कार ही तो हैं। हम वही कर पायेंगे जो हमारे बस में है, हम वही बोल पायेंगे जैसा हमारे विचारों में है। शिक्षा, सभ्यता, कुल और आचार व्यवहार का पुट आता अवश्य है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह सब ऊपरी आवरण है जो शायद किसी ने जबरदस्ती ऊपर डाल दिया है। संस्कारों का वेश तीव्रता से अथवा प्रबलता से उभरने पर वह जबरदस्ती से डाला गया आवरण छिन्न-भिन्न होकर गिर जाता है और प्रगट हो जाता है प्राणी का असली स्वरूप। दोनों ओर यह बात लागू होती है। उदाहरणार्थ दो मनोरंजक घटनायें हैं पुराणों में – बाल्मीकि की और विश्वामित्र की। किसे पता था कि आदिकवि का भक्त-हृदय आच्छादित है बधिक के नकली स्वरूप से और महातपस्वी विश्वामित्र के त्याग के भीतर धधक रही है वासना की ज्वाला।

'कुछ करनी कुछ करम गति' यह है साधारणतया प्राणी के जीवन का सारांश और उसकी गतिविधि की धुरी। बिल्कुल स्वतन्त्रता नहीं, न ऊपर की न अन्दर की।

ऐसा सब कुछ सोच-सोच कर प्राणी निराशा के गर्त में गिरना ही चाहता है। आशा धन है उसके जीवन का। यह धन ही उसका अपना धर्म बन गया दिखने लगता है, मंडराने लगता है वह उसके चारों ओर। दु:ख-सुख, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों की परिभाषा ही उसके विचार का विषय बन जाते हैं। धीरे-धीरे निराशा आती है जब आशाओं की पूर्ति भी उसको सुख प्रदान करती प्रतीत नहीं होती। जिस हृदय में सांसारिक प्राप्तियाँ भी सुख न पहुँचावें, सांसारिक दु:खों का भी अभाव हो तो वह शून्यता की स्थिति होती है मानव के लिये। एक खालीपन सा लगता है उसको। संसार के शोर-गुल के बीच सूना लगता है जगत। वास्तव में जगत सूना नहीं होता, सूनापन होता है उसके अपने अन्तर में। सूनेपन की स्थिति बड़ी

पीड़ादायक स्थिति होती है। प्राणी कराहना चाहता है, कराह नहीं सकता, रोना चाहता है, रो नहीं सकता। कैसे रोये? रोना आता है दु:ख से, दु:ख तो उसे कुछ है नहीं। हँसने की कोशिश करता है लेकिन झूठी हँसी भी कब तक हँसे और कैसे हँसे?

ऐसी विचित्र और रहस्यमयी अवस्था में उसके अपने अन्तर के गर्भ के किसी अनजाने कोने से एक पुकार की सी आवाज़ आती सुनाई देने लगती है। वह इधर-उधर कान लगाकर सुनता है, कहाँ से यह पुकार आ रही है। छटपटाहट सीमा पार करती जान पड़ती है और वह एक दिन अचानक, अनायास और अनजाने ही पुकार बैठता है।

'हो कहाँ प्रभु दीन धर?' उस प्रभु का वह अभी तक नाम तो सुना ही करता था, यदा-कदा ले भी लिया करता होगा किन्तु यह आज कौन सी नवीन प्रेरणा है जो उसे इस पुकार की ओर अग्रसर कर रही है। उसकी चेतना को झकझोरती सी जान पड़ रही है। निराशा के गर्त में से निकलती हुई यह कौन सी छलनामयी धारा है जो उसके जीवन की गति को मोड़ती हुई सी दिखाई पड़ रही है। अभी तक जो राग-द्वेष के धन्धों में निज को सुलझा हुआ समझता था आज राग-द्वेष के और सुख-दु:ख के प्रति उदासीनता में अपने को उलझा सा पाता है। दुनिया छूटी सी जान पड़ती है उसे, उसने तो कुछ छोड़ा नहीं; सभी बच्चे, माँ-बाप, घर-बार, काम-धन्धा, नौकर-चाकर सभी तो उसके चारों ओर हैं; किन्तु वह तो निज को उनमें नहीं पाता। उखड़े-उखड़े से जीवन में यह पुकार कहाँ से फूट पड़ी?

'हो कहाँ प्रभु दीन धर?'

और यही पुकार तो प्रभु कृपा का द्योतक है, और अन्धकार में यही प्रकाश की किरण है, मेघाछन्न आकाश में दामिनी द्युति है, निरीह का आश्रय है, सूने का सिंगार है और जीवन का धन है। वह निराकार आकार में आता है, वह निर्गुण सगुण में परिवर्तित होता सा दीखता है उसे, उसको झुकाने के लिये, उसे विनम्र बनाने के हेतु, नहीं-नहीं उसे अपनाने के हेतु।

उसे पुकार तीव्र करनी होगी। कैसे? निरन्तर पुकारना होगा। वह पुकारेगा ही, इसके अतिरिक्त और कुछ कर भी तो नहीं सकता। वही तो प्रेरित कर रहा है उसे पुकारने के लिये। उसी की कृपा संकेत से तो वह पुकार सक रहा है। ऐसी विचार शक्ति भी उसे रखनी ही पड़ती है। यदि इससे पहले का सूनापन और खालीपन उसके बस का नहीं था तो यह प्रेरणा भी उसका अपना प्रयास नहीं है। पहले का रचा हुआ विधान है। प्रभु की कृपा है जिसे वह स्वीकार करता है, ग्रहण करता है। यह ग्रहण-शीलता, यह स्वीकार करने की सामर्थ्य उसे झुकना सिखाती है, अपने को खोना सिखाती है, मिटना सिखाती है। उसे लगने लगता है वह स्वयं कुछ नहीं है। यह 'कुछ नहीं' का भाव साधक का बल है। इसी सीढ़ी पर वह जब पैर रखता है तो वह ऊपर जाता है। उसकी कृपा की वर्षा तभी होगी जब वह 'मैं कुछ नहीं तू ही है सब कुछ' कह कर झोली पसारेगा।

यह है विकास का क्रम, संसार की सारी रचना सृष्टि। वनस्पति जगत में विकास है, पशु जगत में विकास है, मानव शरीर में विकास है तो यह कैसे भूला जाये कि मानव मन में, मानव हृदय में, अन्तराल में रूपान्तर होगा। होगा रूपान्तर। आमूल चूल रूपान्तर का विधान है इस महाशक्ति का। कल्मष धो देती है वह। काले से शुभ्र करना भौतिक विज्ञान जगत में सम्भव नहीं; किन्तु उस शक्तिधाम की शुभ्र-छटा से कालापन दूध के मानिन्द सफेद होता देखा गया है। बेचैनी जो नसों को तोड़ती सी जान पड़ती थी, श्री स्वामी जी के दर्शन से चैन में परिणत होती हुई किस साधक को प्रतीत नहीं हई? माना कि चैन की आई हुई वह झलक फिर लुप्तप्राय सी लगी, लेकिन उसका लुप्तप्राय होना उसके पुनरागमन का ही द्योतक जानना होगा। इस जानने को ही विश्वास कहते हैं। आज हम बेचैन हैं, दु:खी हैं, विकल हैं, किन्तु यह

बेचैनी, दु:ख अथवा विकलता अस्थायी है, तूफान के पश्चात् शान्त होता है सागर। यह कुदरत का नियम है। तो हमारी बेचैनी भी चैन को स्थान देने के लिये ही आती है। इस विश्वास, निष्ठा को धारण करते हुए अपने जीवन में उतारते हुए यदि हम साक्षी बनकर अपने अन्दर देखेंगे तो अद्‌भुत तमाशे हमें अपने ही अन्दर दिखाई पड़ेंगे। बेचैनी का विश्लेषण भी यदि थोड़ा हम करने लगेंगे तो बेचैनी के स्वरूप का भी ज्ञान होगा। उसके कारण की भी जानकारी होगी और बेचैनी, बेचैनी न रहकर हमारे अध्ययन का विषय बन जायेगी। यह भी एक मनोवैज्ञानिक हल है। परन्तु यह मस्तिष्क प्रधान व्यक्तियों का हल है। इसमें विश्वास, प्रभु-कृपा के विश्वास रूपी झलक से 'सोने में सुहागा' जैसी चमक आती है। प्राणी साक्षी भाव से अपने को देखते हुए ऊपर से अवतरित होती हुई कृपा की उस गंगा धारा को भी ग्रहण करता है और अपने को कृतार्थ मानता है, धन्य समझता है निज को।

विकास हो रहा है। मानस से अतिमानस की ओर हम जा रहे हैं, यह निश्चित् रूप से सत्य है। किन्तु शक्ति के, महाशक्ति के अवतरण के फलस्वरूप ही। अपने प्रयास के कारण नहीं, अपने प्रयत्नों से नहीं। क्योंकि यही तो ध्रुव सत्य है कि बेचैनी हमारे अपने कर्मों का फल है, हमारे संस्कारों से उपजी है और हमारी बेचैनी, हमारी अशान्ति और विकलता महाशक्ति से देखी नहीं जाती। वह महा कारुणिक जो है। द्रवीभूत होती है वह, हाथ पसार कर हमें गोद में बैठा लेने को व्यग्र हो उठती है वह। चिन्ता नहीं करती वह कि हम कितने मैले हैं, धूल से भरे हैं, त्रुटियों से भरपूर हैं और कण-कण में हमारे कल्मष है। किन्तु महाशक्ति रूपी प्रभु कृपा को उस धूल की, मैल की, कल्मष की तनिक भी चिन्ता नहीं है, वह हाथ पसारती है गोद में बैठा लेती है। प्राणी को अनन्त शान्ति की अनुभूति होती है। वह गद्‌गद् हो जाता है।

फिर? फिर भी संस्कारों का उदय हो सकता है, हो सकता ही नहीं, पूरी सफाई जब तक नहीं हो जाती होता ही है उदय। प्रभु कृपा फिर बरसती है, हमें कृतकृत्य करती है। हमारे विश्वास को पुष्टि मिल जाती है फिर। ऐसा जीवन में होता ही रहता है। यह जीवन का खेल ही तो है। दूसरी विशेष स्मरणीय बात यह है कि साधना का क्रम एक ही जन्म का नहीं है। जब तक महाशक्ति पूरा शोधन नहीं कर लेगी, अनेकों जन्मों का खेल हो जाता है यह शोधन का कार्य। अत: व्यक्ति को विचलित नहीं होना है। अडिग विश्वास रखकर उसकी लीला को देखें और ग्रहण करें सब कुछ उसी से – दु:ख भी, सुख भी, चैन भी और बेचैनी भी।

और नत मस्तक होवें उसकी इच्छा पर।

– श्रीमती लक्ष्मी देवी जी

(पुरानी पत्रिका से उद्‌धृत)

शुभ समाचार

अत्यन्त हर्ष के साथ सूचित किया जाता है कि हमारे साधक श्री सुनील कान्त अग्रवाल, निवासी पीलीभीत ने अपनी भांजी कु. विति अग्रवाल सुपुत्री श्री अंकित अग्रवाल के द्वितीय जन्म दिवस के सुअवसर पर रु. 5,000/- (पाँच हजार रुपये मात्र) की धनराशि साधना धाम के लिए गुरु चरणों में समर्पित की है। समस्त साधना परिवार की मंगल कामना है कि कु. विति हमेशा स्वस्थ रहे तथा उन पर गुरु आशीष की वर्षा सदैव होती रहे।

स्वामी जी के साधन सम्बन्धी विचार

इससे पहले कि हम किसी सन्त की साधन शैली को समझने का प्रयास करें हमें साधना के स्वरूप को समझने की चेष्टा करनी चाहिये। हृदय की गहराई से प्राय: एक पुकार उठती है; वह पुकार एक याचना के रूप में होती है किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये। किसी भौतिक वस्तु की प्राप्ति से वह शान्त होती नहीं – न इति; न इति; मनुष्य बढ़ता जाता है एक वस्तु से दूसरी की ओर, दूसरी से तीसरी की ओर आगे पागल सा। सोचता है अमुक वस्तु पूर्ण रूप से उसे सन्तुष्ट कर सकेगी। वह बढ़ता है उसकी प्राप्ति के लिये – हृदय के समूचे अरमान उस एक वस्तु पर केन्द्रित हो जाते हैं। किन्तु जब वह वस्तु प्राप्त हो जाती है सारे अरमानों की तुष्टि हो जाती है, उसे पाने पर अनुभव करता है वह, जिस वस्तु को उसने इतना मूल्य दिया था वह कुछ भी तो नहीं थी, पर दौड़ का यह चक्र शान्त तो नहीं होता विवेक के उस क्षण के साथ। दौड़ फिर शुरू हो जाती है, दुगुनी बेचैनी से, तत्परता से मानों व्यक्ति अपने को अब पूरी तरह से सन्तुष्ट ही करके छोड़ेगा। विश्व की प्रत्येक वस्तु उसको उलझाने की शक्ति रखती है। उलझता, गिरता पड़ता व्यक्ति फिर भी इस रपटन को समझने की चेष्टा नहीं करता।

आखिर इस दौड़ का अभिप्राय:? क्या है इसका फल? यह रपटन फिसलन क्यों? किन्ही एक आत्माओं में यह भावना प्रबल होती है जिससे प्रेरित होकर वह इस 'चक्र' को समझने की चेष्टा करता है; फिर वह भी शान्त हो जाती है प्राय:। कभी-कभी, इतनी प्रबल होती है कि व्यक्ति इसके लिये आतुर हो उठता है, तब वह या तो स्वयं यदि बुद्धिशील हुआ तो निजी बुद्धि से इस समस्या का हल करता है – या वह किसी योगी-सन्त से अपनी पहेली को सुलझाने का प्रयास करता है। दोनों ही अवस्था में हमारी लगन जितनी प्रबल एवं सरल होगी, समाधान स्वयं होता जायेगा।

बौद्धिक स्तर पर जिन्होंने इन समस्या का समाधान करने की चेष्टा की है, उन दार्शनिकों के विषय में तो हमें यहाँ पर सोचना नहीं। यहाँ पर तो हमें उन सरल भावना प्रधान व्यक्तियों की समस्या एवं समाधान के विषय में विचार करना है जो अपनी शक्ति में विश्वास न रख कर किसी अनुभवी सन्त की शरण में जाते हैं 'प्रकाश' के लिये। उनमें विश्वास और सरलता जितनी मात्रा में होगी 'प्रकाश' की सम्भावना भी उतनी ही मात्रा में होगी। अस्तु!

यह मृग तृष्णा है क्या? यह भाग दौड़ क्यों? यह हृदय की आत्मा की पुकार है अपने परमात्मा से, प्रभु से युक्त हो जाने की। आत्मा की पुकार है पूर्णत्व की, जो विश्व की किन्हीं क्षणिक वस्तुओं से शान्त नहीं हो पाती। जब तक आत्मा इस खोज में, इस दौड़ में अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं करती, उसकी यह दौड़ शान्त नहीं हो पाती – यह है इस पुकार का रहस्य .... और इसी में उसकी शान्ति का, समाधान का रास्ता भी छुपा हुआ है – वह 'प्रभु प्राप्ति का पथ ही प्रभु मिलन का रास्ता है' – विश्व की चकाचौंध में फँसे रहने में तो हम उससे अलग ही रहते हैं .... और उतनी ही मात्रा में हम अपने को अशान्त, अस्थिर पाते हैं – उसकी शान्ति व तृप्ति तो प्रभु से पूर्ण ऐक्य को प्राप्त कर अपने ज्ञान तथा आनन्द को प्रकट करके ही होती है। जब तक आत्मा, पुरुषोत्तम से इस विश्व के केवल मात्र अन्तिम तत्त्व से ऐक्य को प्राप्त नहीं कर लेती और अपने में छिपी दिव्य शक्ति, ज्ञान तथा आनन्द को – सत्, चित, आनन्द को पूरी तरह प्रकट नहीं कर पाती, वह पुकार शान्त नहीं होती। इस पुकार की शान्ति का प्रयत्न ही साधन का तथ्य है। जब पुकार होगी तभी साधन भी होगा। यह पुकार ही साधन के लिये प्रवेश पत्र है। विकास की धारा को आगे ले जाना, मानुषी से अतिमानुषी स्तर को प्राप्त करना ही साधन का तथ्य है। जो व्यक्ति

साधन करके अपने को दिव्यता की ओर ले जाता है वह समाज को उज्ज्वल करता है। स्वयं लाभ उठाता है और प्राणी मात्र के विकास को आगे ले जाने में सहायक होता है।

स्वार्थ का त्याग साधना का मूल मन्त्र है। ऐसे व्यक्ति की नूतन शक्ति, उपार्जित दिव्यत्व, लोक कल्याण के लिये होता है। साधन व्यक्ति के कल्याण के लिये है। यह लोकमात्र के कल्याण के लिये भी है। साधना के पथ का पथिक दिव्यत्व को मनुष्य मात्र के समीप लाता है। आध्यात्मिक साधन के पथ का पथिक एक विशाल आदर्श से अनुप्राणित होता है। जीवन को सर्वांगीण (सब विधि) पूर्ण कर देना इसका ध्येय है। शक्तियों का अधिकाधिक विकास और अतिमानुषी अवस्था की, दिव्यत्व की प्राप्ति। यानी अन्दर बाहर शान्ति और क्रिया में पूर्ण, दिव्यत्व में पूर्ण, मनुष्यत्व में पूर्ण। शरीर, प्राण, हृदय तथा बुद्धि में हर तरह से पूर्ण। हर तरह से पूर्णत्व ही साधन का मंगल सूत्र है। इसी सिद्धि के लिये ही साधक अग्रसर होता है।

साधना के मार्ग अनेक हैं। सभी का अन्त में एक ही स्थान है, सभी का एक ही लक्ष्य है। जैसा कि गीता चतुर्थ अध्याय के ग्यारहवें श्लोक में भगवान ने अर्जुन से कहा है –

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

जो जिस प्रकार मेरी शरण होता है उसी प्रकार मैं उन्हें स्वीकार करता हूँ। हे अर्जुन इस रहस्य को जान कर बुद्धिमान लोग सब प्रकार से मेरे मार्ग के अनुसार वर्तते हैं।

आत्म शक्ति के विकास को अग्रसर करने के लिये आध्यात्मिक साधना के पथों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। वह साधना जिसकी क्रिया में मूलाधार या किसी अन्य केन्द्र से सहस्त्रार में लीन करने का प्रयत्न किया जाता है। वह आरोह पथ की साधना कहलाती है और उससे ठीक प्रतिकूल पथ अवरोह का है। इसमें शक्ति की धारा ऊपर से नीचे की ओर आती है। क्रिया सभी केन्द्रों से होती है व सहस्त्रार से भी।

अन्तर इन दो साधन पथ में यह है कि 'आरोह' साधना में व्यक्ति अपनी शक्ति का प्रयोग अपने आप, अपने बल पर करता है। 'संयम' द्वारा, ब्रह्मचर्य के पालन द्वारा। और संयम का पथ खतरे का पथ है। हमारे निम्न संस्कार कभी भी हमारे सन्तुलन को बिगाड़ सकते हैं। संस्कारों का परिष्कार न होकर केवल मात्र उनका दमन होता है इसलिये उनके उभाड़ का भय सदैव रहता है। इसी को पतन कहते हैं – दूसरी बात यह है कि यह उत्थान एक अस्वाभाविक क्रिया द्वारा होता है। मनुष्य का हृदय द्वन्द्व स्थल हो जाता है। निम्न प्रवृत्तियों के साथ सतत संघर्ष चलाना पड़ता है। जीवन को युद्ध स्थल बनाना कभी भय से खाली नहीं। स्वामी जी ने इस पथ के विषय में कहा है 'यह तो बलात्कार से कली खिलाने का प्रयास है हमारा'।

कली नैसर्गिक रूप से जब विकसित और पुष्पित होती है उसमें सौरभ और सौन्दर्य उतने ही अभिराम रूप से प्रकट होते हैं। उसमें दिव्यता होती है, पवित्रता होती है। उसमें भय नहीं होता विकास की गति का उल्टी दिशा में प्रवाहित होने का।

इसके विपरीत जो साधन शैली है उसे अवरोह पथ के नाम से पुकारते हैं, उसमें महाशक्ति की क्रिया का पूर्ण अवलम्बन है। उसके अनुग्रह की, दया की कामना करते-करते, भक्त समर्पण में पूर्ण होता जाता है। माँ अपने स्नेह के प्रसार को विस्तृत करती जाती है – भक्त झुकना सीखता है। महाशक्ति की इच्छा को सर्वोपरि मान कर उसकी इच्छा में अपनी इच्छा की पूर्णता मान कर। और माँ निहाल कर देती है अपने बच्चे को, पुरस्कृत कर देती है स्नेह और कृपा के उपहार से। जीवन स्वतः सौम्य होता चला जाता है। कहीं पर संघर्ष नहीं, युद्ध नहीं। संघर्ष आन्तरिक यदि होता भी है तो माँ के चरणों में वह

भी अर्पित हो जाता है। समर्पण के इस रहस्य में तो बुद्धि का कोई स्थान ही नहीं रहता।

बुद्धि द्वैत का सृजन करती है। समर्पण के इस योग में द्वैत का कोई स्थान नहीं। मीरा की साधना में कहाँ था द्वैत? सूर के गोपाल क्या सूर की आत्मा की प्रतिच्छाया न थी? आत्मा की पुकार में द्वैत कहाँ?

आधुनिक युग में हमें रामकृष्ण परमहंस और टैगोर में उसी लगन की प्रतीति होती है जो एक समय मीरा की करताल में झंकृत हो उठी थी। टैगोर का दृश्य अपने प्रियतम की प्रतीक्षा में, अपना जीवन विस्मृत करने को प्रस्तुत था (समूची गीताञ्जलि कवि हृदय की अर्चना है अपने प्रियतम के चरणों में) माधुर्य भाव की उपासना थी टैगोर की।

पुष्प के सौरभ में, उनके रंगों में, चिड़ियों के राग में प्रियतम का सन्देश भरा हुआ है। प्रियतम प्रतीक्षा में खड़ा है भक्त कब अपने स्नेह के उपहार से उसे कृतकृत्य कर दे। कैसी विचित्र है यह स्थिति जब भगवान याचक है भक्त के स्नेह का, और भक्त हृदय भगवान के चरणों की प्रतीक्षा में आतुर हो रहा है। यह है गीताञ्जलि जिसकी प्रत्येक कड़ी भक्त हृदय की लगन तथा समर्पण से अनुप्राणित है। यह था टैगोर का कवि हृदय जिसने जीवन के रहस्य को अपने हृदय की साधना से समझने का प्रयास किया था। जीवन में निहित सौन्दर्य और प्रकाश से तादात्मयता स्थापित की थी। पर जीवन के समूचे पक्ष में इस युग की अभिव्यक्ति तो किन्हीं ही महान आत्माओं को प्राप्त हुई है। समूचे जीवन को साधनामय बना देना, जीवन के हर्ष, विषाद को सम रूप से स्वीकार करना, और दोनों ही को माँ के प्रसाद के रूप में स्वीकार करना – यह तो किन्हीं दुर्लभ सन्तों को ही प्राप्त हो सकी है।

स्वामी रामानन्द जी का जीवन समर्पण के मूल मन्त्र की साकार अभिव्यक्ति थी। माँ महाशक्ति की इच्छा से उनकी इच्छा इतनी एकाकार हो चुकी थी कि आश्चर्य होता है उनकी उस सहनशीलता पर, जिसका परिचय हमें उनके जीवन की अन्तिम घड़ियों के हाल से मिलता है।

स्वामी जी का जीवन उनकी साधना पद्धति का जीता जागता उदाहरण था। साधना की आन्तरिक अनुभूतियाँ, माँ का वैविध्यपूर्ण खेल, इसमें तो विभिन्नता प्रतीत हो सकती है पर उस आन्तरिक स्थिति की बाहरी अभिव्यक्ति तो सब में समान होनी चाहिये। पुष्प के रंग रूप में भेद होने की सम्भावना है पर सौरभ तो जितनी मात्रा में जितनी भीनी होगी उतना ही पुष्प की श्रेष्ठता का परिचय देगी – जीवन का अन्दर से जितना ही निखार होता चला जायेगा उतना ही आन्तरिक संघर्ष कम होता चला जायेगा। जीवन में एक विचित्र सौम्यता का प्रसार हो जायेगा। आत्मा की अभिव्यक्ति इसी को कहते हैं। आत्मा की स्वाभाविक अभिव्यक्ति आनन्द में होती है। सुख में, दु:ख में, सब में आनन्द की प्रतीति दिव्य स्थिति की सूचक है। स्वामी जी जीवन के द्वन्दों से ऊपर उठ चुके थे। दु:ख में, सुख में वह सब में उस दैवी महाशक्ति की क्रीड़ा देखते थे। कहीं भी उनकी इच्छा, महाशक्ति की इच्छा से संघर्ष करती नहीं दिखती थी। वह महाशक्ति के पूर्ण यन्त्र थे। गीता में स्थितप्रज्ञ की जो परिभाषा दी हुई है उसके वह सजीव उदाहरण थे।

स्वामी जी का स्थूल शरीर हमारे मध्य नहीं किन्तु उनकी पुस्तकों में आबद्ध उनका सन्देश उन सभी तृषित आत्माओं को मिलता रहेगा जो आन्तरिक प्रकाश के लिये आतुर हैं। उनके जीवनकाल में जिन्हें उनके सम्पर्क में आने का सौभाग्य मिला है उन्हें तो उनके व्यक्तिगत उज्ज्वल जीवन से सदैव ही प्रेरणा मिलती रहेगी

– श्याम कुमारी वर्मा जी

(पुरानी पत्रिका से उद्धृत)

❖ ❖ ❖

संयम का उपार्जन

(स्वामी रामानन्द जी)

प्रत्येक व्यक्ति के सामने किसी न किसी संयम के उपार्जन की समस्या आ खड़ी होती है। इन्द्रियाँ वेग के साथ उसको विषय की ओर खींचती हैं और विषयों का बेरोक उपभोग दु:ख का कारण होता है तथा जीवनशक्ति को जल्दी ही क्षीण कर देता है। इसलिये इन्द्रियों को वश में करने की आवश्यकता महसूस होती है। यही हालत मन की है। जो वस्तु अच्छी लगती है वह मन का हरण कर लेती है और व्यक्ति चुम्बक के पीछे लोह-कणों की भाँति परवश खिंचा चला जाता है। इससे मनुष्य की स्वतन्त्रता तथा आत्म-नियन्त्रण की शक्ति का ही अभाव नहीं होता, अपितु शारीरिक और मानसिक क्षतियाँ तथा सामाजिक कलंक की उत्पति होती है। इसलिये मन को भी वश में करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। यही हालत बुद्धि की भी है। यह अभाव पक्ष का दृश्य मैंने आपके सामने रखा है। अब ज़रा दूसरे दृष्टिकोण को लीजिये। संयम के उपार्जन से न केवल हम हानि से बच जाते हैं, बल्कि हम एक अलौकिक (अपार्थिव) आनन्द को प्रतीत करते हैं, उसे हम संयम का सुख कहेंगे। इसके साथ-साथ शक्ति के उपार्जन से सामर्थ्य भी बढ़ता है। इस सामर्थ्य के द्वारा हम दुनिया में कुछ कर दिखा सकते हैं, कुछ बन सकते हैं।

सब लोग यह जानते हैं, कि जिह्वा का संयम करना चाहिये तथा उपस्थ (गुह्येन्द्रिय) का संयम करना चाहिये। वाणी, दृष्टि तथा मन के संयम भी उपार्जनीय की कोटि में आते हैं। यह जानते तो सब हैं परन्तु इसको किस प्रकार से सम्पन्न किया जाये, यह विरले ही ठीक तरीके से समझते हैं। इसी तरीके का हम चिन्तन करेंगे। संयम को प्राप्त करने के लिये सबसे मुख्य आवश्यकता आत्माभिमान की है। मैं आत्मा हूँ, इन्द्रियों का, मन तथा बुद्धि का स्वामी हूँ, यह मेरे उपयोग के यन्त्र हैं। गीता में भी कहा है:-

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

अर्थात इन्द्रियाँ बड़ी बलवती हैं, परन्तु उनसे अधिक बलशाली मन है, और मन से अधिक बलवती बुद्धि है, और बुद्धि से भी बलवत्तर आत्मा है। इसके साथ-साथ यह भी जानना है कि मैं आत्मा हूँ, अत: मेरा शासन इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि पर होना ही चाहिये। और उपनिषद् में भी आया है :-

दर्शनाय चक्षः स दृष्टा, श्रवणाय श्रोत्त स श्रोता

देखने के लिये आँख हैं, देखने वाला वह है। सुनने के लिये कान हैं सुनने वाला वह है इत्यादि। यह इन्द्रियाँ केवल मात्र हमारे उपयोग के लिये स्थूल यन्त्र हैं। जब हम में दृढ़ विश्वास हो गया कि मैं आत्मा हूँ – अर्थात इन सबका स्वामी हूँ – इनसे बलवत्तर हूँ तो आत्मसंयम का आधे से अधिक रास्ता कट गया। जब कभी हमारे सामने लालच आता है जैसे किसी मिठाई के खाने का विचार, तो भीतर एक लड़ाई आरम्भ होती है। एक ओर तो उसके खाने से आने वाले स्वाद के संस्कार उमड़ पड़ते है और हमें उस भोग की ओर खींचते हैं। दूसरी ओर विचार आता है – खाना शरीर के पोषण के लिये होना चाहिये, न कि खाने के लिये। हर समय खाने से स्वास्थ्य बिगड़ता है, अत: इस समय नहीं खाना चाहिये। जो संस्कार विजयी होते हैं, उधर क्रिया होती है। प्रतिपक्षी विचारों के बलवत्तर होने पर हम उस समय संयम करते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि जिह्वा के संयम के लिये प्रतिपक्षी विचारों को पुष्ट करना चाहिये। बार बार विचार करने से तथा भावों का सहयोग देने से संस्कार दृढ़ होते हैं और संयम आसान हो जाता है।

आरम्भ में जहाँ पर प्रतिपक्षी संस्कार को दृढ़ करते जाना चाहिये वहाँ इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि विषय का चिन्तन ही न हो। इस बात के लिये विशेष चौकन्ने रहने की आवश्यकता है। जैसे पुराने गढ्ढों में गाड़ी जल्दी से पड़ जाती है। ऐसे ही विषय के चिन्तन में मन सहज में उलझ जाता है। इसलिये बार-बार मन को दूसरी ओर लगाना चाहिये। विषय का आक्रमण होने पर मन को दूसरी ओर लगाने का आसान तरीका किसी काम में लग जाना है, जिसे करने के लिये पर्याप्त मानसिक अथवा शारीरिक परिश्रम की आवश्यकता हो। ऐसा करने से ध्यान बदल जायेगा। भयंकर क्षण व्यतीत हो जायेंगे।

इस संयम के आरम्भ से ही आपको एकान्तिक विजय ही प्राप्त होगी, ऐसी आशा, निराशा की जननी हो सकती है। जितने ही भोग के संस्कार दृढ़ होते हैं, उतनी ही अधिक कठिनाई उन पर विजय प्राप्त करने में आती है। अन्तिम विजय पर वज्र सम दृढ़ विश्वास रखो। आरम्भ में कई एक बार सम्भव है, हार का मुख देखना पड़े, परन्तु चिन्ता न करो, मैदान न छोड़ो, अन्त में आप ही के गले में विजयमाला सुशोभित होगी।

बार-बार दृढ़ संकल्प करना चाहिये, कि मैं अमुक कार्य नहीं करूँगा। मैं उज्ज्वल आत्मा हूँ, मैंने अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाना है। ऐसे कार्य मुझे शोभा नहीं देते हैं और उज्ज्वल भविष्य के बाधक हैं। अत: मैं ऐसे कार्य नहीं करूँगा।

प्रारम्भिक अवस्थाओं में लुभाने वाली परिस्थिति से यथासम्भव बचना चाहिये। संस्कारों के दृढ़ हो जाने पर स्वयमेव चित्त से विषय दूर भागने का स्वभाव जाता रहेगा और सम-स्थिति उपलब्ध हो जायेगी। संयम के उपार्जन में, आरम्भ छोटी सी बात से करना चाहिये। उसमें सफलता लाभ करके, उसे स्थायी बनाकर आत्मविश्वास को लाभ करना चाहिये। इस आत्मविश्वास का सहारा लेकर आत्मसंयम के पथ पर नये-नये फ्रंटों पर विजय प्राप्त करते जाना चाहिये। बस इस विषय में अब इतना ही कहना बाकी है कि आत्मविश्वास को दृढ़ कैसे किया जाये और उत्तम संस्कारों को कैसे उपार्जित किया जाये? ऊपर लिखे हुए चिन्तन के अतिरिक्त anti-suggestion भी इस विषय में बड़ा उपयोगी सिद्ध हो सकता है, जहाँ तक कि आत्मविश्वास का प्रश्न है। 'मैं बलशाली आत्मा हूँ, मैं इन्द्रिय मन बुद्धि का स्वामी हूँ। मैं ज्ञान-सम्पन्न हूँ, मैं आत्मसंयम से सम्पन्न हूँ।'

'मैं शान्त गम्भीर तथा शक्तिमय हूँ।' इसको प्रतीत करने का प्रयत्न करना चाहिये। सोते समय तथा उठते समय अपने आदर्श का चिन्तन करके उसकी प्राप्ति के लिये दृढ़ संकल्प करना, सच्चे हृदय से प्रभु से प्रार्थना, शक्ति-लाभ तथा सद्बुद्धि की प्राप्ति के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है। जितनी सच्ची हमारी आकांक्षा होगी, जितनी गहरी हमारी दिव्य जीवन के लिये पुकार होगी, उतनी ही प्रबल हरि-कृपा की बाढ़ हम पर आयेगी। प्रार्थना जीवन के पथ को बिल्कुल परिवर्तित कर सकती है, मुर्दा नि:सहाय आत्मा में आशामय जीवन का संचार कर सकती है तथा आत्मसंयम के विकट-पथ को सुगम अति सुगम बना सकती है। विषय के आक्रमण होते ही यदि हम श्री भगवान के शरण में जा सकें तो एक दम विषय का वेग समाप्त हो जाएगा।

अपने आदर्श को सजीव करने के लिये, उसकी पकड़ को सुदृढ़ करने के लिये आवश्यकता है सत्संग की, जहाँ हमें वह आदर्श स्थूल रूप में दृष्टिगोचर हो सके। यदि ऐसे सन्तों का संग सुप्राप्य न हो तो सन्तों के चरित्रों का मनन करना चाहिये। केवल मात्र पढ़ जाने से बहुत लाभ की सम्भावना नहीं। थोड़ा पढ़ना, बहुत विचारना, अपने जीवन पर घटाना। ऐसा अध्ययन हमें बदल सकता है – हमारी काया पलट सकता है। मत भूलो जो मनुष्य ने किया है, वह तुम भी कर सकते हो –

"What man has done, that man can do."

(पुरानी पत्रिका से उद्धृत)

स्वामी जी से परिचय

यह सत्य ही है कि जब माँ भगवती की कृपा होती है तो समस्यायें अपना समाधान स्वयं ढूँढ निकालती हैं, सफलता स्वयं आकर चरण चूमने लगती है और मंजिल स्वयं राही तक चली आती है। जीवन में कभी-कभी कुछ ऐसी घटनायें घटित हो जाती हैं कि जिनकी न तो हम कभी कल्पना ही कर पाते हैं और न आशा ही; किन्तु जब वास्तविकता का भान होता है तो विश्वास करना ही पड़ता है। मेरे जीवन की एक ऐसी ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना है पूज्य स्वामी जी से प्रथम परिचय!

लगभग दिसम्बर सन् 1942 की बात है। मैं उस समय जिला पीलीभीत में डिप्टी कलक्टर था। एक दिन भाई राय बहादुर जी और श्री श्याम सुन्दर सहाय जी मिलने आये। बातों-बातों में कहने लगे कि यहाँ पूज्य स्वामी रामानन्द जी महाराज आये हुए हैं और श्री राम बहादुर जी के यहाँ राम कुटी में ठहरे हैं। उन्होंने जो कुछ स्वामी जी के विषय में बताया वह इतना प्रभावशाली जान पड़ा कि मैं उनके दर्शनों के लिये लालायित हो उठा और श्याम सुन्दर सहाय जी के साथ राम कुटी की ओर अनायास ही चल पड़ा। मैंने स्वामी जी के दर्शन किये और करता ही रह गया। उनके सौम्य मुख-मण्डल को एक अलौकिक दिव्य आलोक दैदीप्यमान किये हुए था। उनके आकर्षक मनोहर व्यक्तित्व में कुछ ऐसा तेज था, कुछ ऐसा ओज था और कुछ ऐसा अनोखा प्रभाव था कि कुछ ही क्षण बाद मैंने अनुभव किया कि मेरा मस्तक स्वयं ही नत था! वे ज्योतिर्मय थे और मैं उस ज्योति की खोज में भटकता हुआ राही। मुझे लगा कि मेरी मंजिल मुझे स्वयं ही मिल गयी है।

एक बार दर्शन करने से तृप्ति नहीं हुई, अत: दो-तीन बार दर्शनों के निमित्त वहाँ गया। उसके पश्चात् सुना उनका भाषण – सरिता के समान निर्मल, सतत प्रवाह सा प्रवाहित, शान्त और गम्भीर – उनमें मेघ मालाओं की गर्जना नहीं थी, झंकृत वीणा के स्वरों की मधुरता थी। पाण्डित्य का झूठा प्रर्दशन नहीं था, ज्ञान के आलोक को फैला कर अज्ञानता के तम को दूर करने का अनूठा प्रयास था। माया-चक्र में फँसे हुए मानवों के प्रति व्यंग की घृणा नहीं थी वरन् उनके प्रति थी सहानुभूति, संवेदना, दया और सहायता करने की नि:स्वार्थ भावना। उनके इस देवोपम स्वरूप के समक्ष मेरे हृदय ने स्वयं ही समर्पण कर दिया। श्री श्याम सुन्दर सहाय जी ने मेरा परिचय पूज्य स्वामी जी से कराया और दयामयी, ममतामयी और कृपामयी माँ की भाँति उन्होंने मुझे अपना लिया, सदा-सदा के लिये अपना बना लिया। उस क्षण से लेकर आज तक उनकी कृपा दृष्टि सदैव मेरे ऊपर रही। जब कोई विषम समस्या मेरे समक्ष आई उसका समाधान उन्होंने किया। जब कभी दु:ख द्वन्द्वों की चोट से मेरा विश्वास डगमगाया, उन्होंने उस महाशक्ति में मेरी आस्था दृढ़ की। और जब कभी मुझे पथ अन्धकारमय प्रतीत हुआ वे ज्योति बन कर छा गये। मेरी चिन्ताओं का भार जैसे स्वयं उन्होंने ले लिया हो। और अब भी मुझे आशा ही नहीं विश्वास है कि भौतिक रूप में न सही किन्तु सूक्ष्म रूप में तो अवश्य ही, सदा की भाँति वे निरन्तर मेरा पथ-प्रदर्शन करते रहेंगे!

पूज्य स्वामी जी के विषय में जब भी सोचता हूँ तो सोचता ही रह जाता हूँ। सोचता हूँ कि उनकी समस्त विशेषताओं की विस्तृत व्याख्या कर सकूँ तो कितना अच्छा हो। किन्तु उनका चरित्र तो उस गहन, अथाह, सीमा रहित सागर की भाँति है जिसमें उनकी विशेषतायें, उनके गुण अक्षय मुक्ताओं के भण्डार के समान भरे पड़े हैं। बुद्धि जितनी गहराई में जा पाती है, उतने ही मुक्ता बटोर लाती है। किन्तु उन सबकी एक सुव्यवस्थित व्याख्या करना, उन सबको एकाकी समक्ष रख देना, दुष्कर ही नहीं असम्भव सा प्रतीत होता है। फिर भी मैं तो उन्हें एक सिद्ध पुरुष मानता हूँ। वे एक ऐसे व्यक्ति थे कि जिनमें वे सब लक्षण विद्यमान थे जो कि एक स्थित-प्रज्ञ के श्रीमद्भगवत गीता के दूसरे

अध्याय के अन्त में बताये गये हैं। **किन्तु उनके जिन गुणों ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया, वे हैं – उनका आनन्दमय स्वरूप, महाशक्ति पर अखण्ड आस्था रखना और ऐसा ही भाव दूसरों में जाग्रत करना, उदारता, सहानुभूति, संवेदना, दूसरे के दुःख को अपना दुःख समझना और उसका यथासम्भव समाधान करना।**

उनकी वह विशेषता जिसने सभी को मन्त्र मुग्ध कर रखा था – वह थी उनके मुखमण्डल पर सदैव विराजने वाली आनन्द आभा! जब भी मैंने उन्हें देखा सदा प्रसन्न ही पाया हँसते हुए, मुस्कुराते हुए, किन्तु कभी मलिन-मुख या खिन्न चित्त नहीं देखा। बड़ी से बड़ी समस्यायों का समाधान उन्होंने हँसते-हँसते कर दिया और कठिन से कठिन दुःखों को भी उन्होंने हँस-हँस कर सुख में परिवर्तित कर दिया। उनके मधुर हास्य से हृदय खिल उठता था – वातावरण सुरभित हो उठता था। खाना खाने के बाद यह उनका नियम सा था कि वे सबको हँसाते और सबकी हँसी में स्वयं सम्मिलित होते थे। कितना ही गम्भीर वातावरण हो अपने मुक्त हास से निर्मल और मधुरिम बना देते थे।

किन्तु उनकी सबसे अनुपम विशेषता थी भगवान पर अटूट विश्वास! माँ के ऊपर उनका ऐसा विश्वास था कि संसार की बड़ी से बड़ी शक्ति भी उसे हिला नहीं सकती थी। यदि कितनी ही बड़ी से बड़ी परेशानी हो, कैसी तकलीफ हो वे सदा यही कहते थे – 'यह भी हो लेने दो।' सबसे बड़ा भय होता है मृत्यु का किन्तु आत्मा तो अजर है, अमर है, अतः हम क्यों व्यर्थ चिन्ता का भार वहन करें। उनका कहना था कि जब तक जीना है हँस-हँस कर जिओ। और एक दिन मरना तो है ही, अतः इसमें विचलित होने की क्या बात है? अहंकार पूर्ण साधुओं की भाँति उन्होंने कभी यह नहीं कहा कि यह **ऐसा होकर ही रहेगा** किन्तु कभी-कभी इसका आभास अवश्य दे देते थे कि **ऐसा कार्य हो जायेगा।** उनके शब्दों से कितनी सान्त्वना मिलती थी, माँ में कितना अविचल विश्वास हो जाता था! ऐसी कितनी ही घटनायें नेत्रों के समक्ष घूम जाती हैं कि जब कभी मेरे साहस और धैर्य का बाँध टूटने लगा तब उन्होंने आकर मुझे बचाया, सर्वशक्तिमयी माँ में आस्था दृढ़ की। किन्तु उन सब घटनाओं में से एक घटना का मेरे जीवन में मुख्य स्थान है।

सन् 1945 में मैं बीमार पड़ा और सन् 1946 तक मेरी अवस्था अत्यन्त चिन्ताजनक हो गई। जीने की कोई आशा न रही। एक दो बार तो नब्ज़ भी छूट गई। गृहस्थी का नन्हा सा पौधा, छोटे-छोटे बच्चे। एक बार सब सोचकर हृदय काँप उठता था। डाक्टरों ने पहाड़ों पर जाने को बताया। कैसे जा पाऊँगा वहाँ तक? पहुँच भी पाऊँगा या नहीं? यही सब सोच कर बार-बार साहस खो बैठता था। किन्तु उसी समय आ गये पूज्य गुरुदेव और मंगलमयी माँ की भाँति उन्होंने मुझे अपनी आनन्दमयी गोद में विश्राम दिया। उनके संरक्षण में मैं चिन्ता मुक्त हो गया। वे ही मुझे सपरिवार लेकर अल्मोड़ा गये। राह में जहाँ भी तबियत विचलित होती – मैं और मेरी पत्नी किसी भावी भय की आशंका से काँप उठते, तभी शीतल और सान्त्वनापूर्ण शब्द पड़ते कानों में – ''अरे चिन्ता क्यों करते हो, सब कुछ भगवान पर छोड़ दो। और यदि होना ही है तो चलो इसे भी हो लेने दो।'' 'यह भी हो लेने दो' – कैसे निर्भीक शब्द हैं? जब परिणाम के भुगतने के लिये इतनी दृढ़ता से तत्पर हो गये फिर वहाँ भय और चिन्ता के लिये स्थान ही कहाँ? और फिर गुरुदेव का साया तो था ही सिर पर!

वे निरन्तर हम लोगों के साथ रहे। राह में जो भी कष्ट हुए उन्होंने भी हम लोगों के साथ हँस-हँस कर बँटाये। हम लोग तख्त पर सोये और वे भी उसी पर लेट रहे। ऐसा लगता था कि वास्तव में वे हमारे हैं – अपने हैं और शायद उससे भी अधिक निकट के हैं। हमारे दुःख उनके दुःख हैं। अन्तर इतना है कि जहाँ हम घबरा उठते हैं वे हँस कर सहन कर लेते हैं और सहन करने की शक्ति प्रदान करते हैं। इस प्रकार वे पहाड़ों पर मेरे साथ ही रहे। दिगोली, चितई, विंसर आदि मुझे ले गये। मेरे साथ पैदल ही मीलों की यात्रा की। मुझे

बल दिया, शक्ति दी और दिया माँ में अखण्ड विश्वास। कभी-कभी तो यह सोच कर मैं सिहर उठता हूँ कि यदि वे न होते तो क्या होता। इसकी शायद मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। उनकी ही असीम कृपा से मेरे शरीर में नवजीवन संचार हुआ – खोई हुई शक्ति मुझे मिल गई और मिल गया जीवन संग्राम में हँस-हँस कर दृढ़ता के साथ, विश्वास के साथ लड़ने का अनूठा उपदेश!

इतना ही नहीं, उन्हें तो प्राणिमात्र से सहानुभूति थी, संवेदना थी। वे प्रत्येक के दु:ख को अपने ऊपर ले लिया करते थे और उस व्यक्ति को दु:ख से मुक्त करने का पूरा प्रयत्न करते थे। साधना के क्षेत्र में भी यदि कोई डगमगाता तो स्वयं आकर संभाल लिया करते थे। वे कहते, दु:खों से हमें घबराना नहीं है वरन् उन्हें प्रसन्नतापूर्वक अपनाना है। जिस प्रकार पहाड़ पर चढ़ते समय कभी-कभी हमें घाटी में से भी गुज़रना पड़ता है इसी प्रकार साधना के क्षेत्र में बढ़ते-बढ़ते भी हमें ऐसा लगता है कि हमारी प्रगति रुक गई है। हम नीचे जा रहे हैं। किन्तु उससे हमें हतोत्साहित नहीं होना है। बढ़ते चलना है विश्वास के साथ और एक दिन माँ भगवती स्वयं ही अपनी कृपा का द्वार खोल देंगी।

सेवा भाव तो मानो उनके दैनिक कार्यक्रम का एक अंग बन गया था। जहाँ उन्हें मालूम होता कि कोई साधक बीमार है तत्काल वहीं पहुँच जाते। उसके लिये जो कुछ बन पड़ता, करते। स्वयं भी औषधि देते थे और कुछ न हो तो अपने उज्ज्वल हास से उसकी पीड़ा तो कम कर ही देते थे। मुझे याद है कि झाँसी में एक बार श्री कुमठेकर जी बहुत बीमार थे और श्री राजपाली जी के यहाँ ठहरे हुए थे। स्वामी जी नित्य उन्हें स्वयं ही औषधि देते – उन्हें सान्त्वना देते और जब कभी उन्हें उदास देखते तो ऐसी बात छेड़ देते कि वे अपनी पीड़ा को भूल स्वयं हँसने लग जाते थे।

किन्तु शायद उनकी सबसे बड़ी विशेषता तो यह थी कि उनके कहने और करने में पूर्ण साम्य था। जो वे सोचते, अनुभव करते और उचित समझते वही कहते और केवल कहते ही नहीं अपने जीवन में उसका अक्षरश: पालन भी करते थे। इस सम्बन्ध में मुझे उनके जीवन सम्बन्धी एक विशेष घटना याद हो जाती है – वह है उनकी मृत्यु-शैय्या का दृश्य। अप्रैल 1952 में मैं हरिद्वार उनके दर्शन करने गया। वे श्री सांगी जी के स्थान पर ठहरे हुए थे। उनके जिगर में भयंकर फोड़ा था। शारीरिक कष्ट सहन करते-करते उनका शरीर बहुत दुर्बल हो गया था और मुख-मण्डल पीत वर्ण का। किन्तु उनकी आत्मा या उनके चित्त पर इसका कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता था। वही तेज, वही निर्भीकता, वही सौम्यता और वही आनन्द उनके मुख-मण्डल को आच्छादित किये हुए था। उनके प्रत्येक शब्द से अखण्ड विश्वास का ही आभास मिलता था, दु:ख की चिन्ता का कोई चिन्ह नहीं। मैं कुछ गम्भीर था, उदास था किन्तु जाते ही अपने हास में उन्होंने मुझे भी समेट लिया। पीड़ा तो जैसे भगवती का प्रसाद बनकर आई हो। सबने कहा कि डाक्टरी चिकित्सा करवाई जाये किन्तु वे तो अन्त समय तक यही कहते रहे – ''मैं तो माँ का हूँ, मेरा सारा भार उसके ऊपर है। जैसी उसकी इच्छा होगी वही होगा। फिर डाक्टरी दवा के चक्कर में पड़कर झूठा सन्तोष प्राप्त करने का प्रयत्न क्यों करूँ?'' मैंने प्रथम बार उनके इस भव्यतम उज्ज्वल स्वरूप को देखा। जैसा उन्हें कहते सुना था वैसा उन्हें जीवन में भी पाया और महाशक्ति की इच्छानुसार ही वह पुण्य और भव्य ज्योति, महाज्योति में विलीन हो गयी!

(गढ़ा शिविर – सम्भवतया अप्रैल 1943 में हुआ। इसकी ठीक-ठीक तारीखें याद नहीं है। इस शिविर का प्रबन्ध तथा संचालन का भार पूज्य स्वामी जी ने मुझे ही सौंपा था। यह पहला शिविर था और प्रयोग के रूप में किया गया था। इसकी सफलता के पश्चात् ही उन्होंने शिविरों की समुचित व्यवस्था की और इनकी उपयोगिता तथा उचित संचालन के ऊपर दो-तीन पुस्तकें भी लिखीं)।

– श्री शिव नारायण सक्सेना जी

(पुरानी पत्रिका से उद्धृत)

कर्मयोग

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

तेरा कर्म करने मात्र में ही अधिकार है, फल में कभी नहीं और तू कर्मों के फल की वासना वाला भी मत हो तथा तेरी कभी कर्म न करने में भी प्रीति न हो।

सांख्य दर्शन की दार्शनिक पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में ज्ञान योग की कठिनाई को समझते हुए गीता के कृष्ण, कर्मयोग की सहजता को अर्जुन के सामने प्रस्तुत करते हैं। ज्ञान-योगी तो सभी कुछ करता हुआ बराबर अपने भीतर इस एहसास को रखता है कि सभी कुछ प्रकृति ही कर रही है। इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों में रम रही हैं, वह न कुछ सोचता है न कुछ देखता है और न ही कुछ करता है। इस एहसास को अपने में बराबर बनाये रखना विरल है, इसलिये कृष्ण कर्म-योग की सरलता एवं सहजता को द्वितीय अध्याय में प्रस्तुत करते हैं। अर्जुन का युद्ध न करने का फैसला 'मोह' से उत्पन्न हुआ है। बन्धु-बान्धवों को सामने देख उनकी आसक्ति उन्हें ऐसा निश्चय करने के लिये विवश करती है। और श्रीकृष्ण उन्हें इस ममता मोह के बन्धन से ऊपर उठकर कार्य करने के लिये कहते हैं। नि:सन्देह देहाभिमानियों के लिये ज्ञान-योग की तुलना में कर्म-योग ही सहज है क्योंकि उसमें कर्त्तापन के भाव के त्याग की बात कृष्ण नहीं करते। वे तो अर्जुन से पूर्ण निष्ठा एवं समर्पण के साथ कार्य करने को कहते है, केवल कर्म-फल त्याग की ही बात करते हैं। कृष्ण उन्हें अपनी क्षत्रिय-प्रकृति के अनुरूप ही कार्य करने को कह रहे हैं केवल कार्य के परिणामों के प्रति तटस्थ होने की बात करते हैं।

''प्रकृति कार्य कर रही है, मैं नहीं कर रहा हूँ'' – इस प्रकार का भाव अपने में सतत बनाये रखना, किसी भी व्यक्ति के लिये सरल नहीं है। हम यह कैसे मान लें कि जो कुछ भी हमारे द्वारा हो रहा है वह हमारे द्वारा नहीं हो रहा है। पर इसी भाव की सहज प्राप्ति हमें तब हो जाती है जब हम कार्य को नि:स्पृह भाव से करते हैं – करने की आदत बना लेते हैं। क्योंकि नि:स्पृह भाव से किया हुआ कर्म व्यक्ति को बाँधता नहीं और व्यक्ति क्रमश: संसार से – मैं तथा मेरा संसार से – सहज ही बाहर हो जाता है।

गीता तो इस भाव को प्रस्तुत करते हुए इससे आगे बढ़ कर कहती है, कि हमें न तो कर्म के करने में और न ही उसके न करने में लिप्त होना चाहिये। कार्य करने की निरन्तरता पर बल देते हुए कृष्ण स्वयं अपना उदाहरण देते हुए कहते है – मैं तो कभी भी एक पल को भी रुकता नहीं, क्योंकि यदि मैं रुक जाऊँ तो यह सम्पूर्ण सृष्टि निर्जीव एवं नि:स्पन्द हो जायेगी। कर्म-योगी भी मेरी तरह ही अनासक्त हो लोक कल्याणार्थ कार्य करता है पर उस कार्य को करने के बदले में वह कुछ भी नहीं चाहता। शुद्ध प्रेम की अभिव्यंजना का भी यही रूप है कि प्रेम करने वाला अपने को सतत-सक्रियता के, सतत-दानशीलता के भाव में स्थिर कर ले। जैसे सूर्य बिना किसी भेदभाव के सभी को अपने आलोक से आलोकित करता है, जैसे यशोदा मैय्या में माँ की मूर्तिमान ममता, बिना किसी स्वार्थ के अपने कृष्ण के लिये अपना सब कुछ देने को सदा प्रस्तुत रहती है। जहाँ भी बदले की चाह है, वापसी की तमन्ना है वहाँ प्यार हो ही नहीं सकता। यही नहीं, जहाँ भी किसी को भी सीमाओं में बाँधने, मात्र अपना बना कर रखने की चाह है, वहाँ भी शुद्ध प्यार नहीं है। वह हमारा है, केवल हमारा, इसमें आसक्ति की अथवा बाँधने की वृत्ति की बू आती है और इसलिये वह उत्सर्ग रूप प्यारे की कोटि में आने वाला प्यार नहीं होता। ऐसा प्यार तो वह ही दे सकता है जो भीतर से सम्पूर्ण हो, कामनाओं के स्पर्श से अछूता है और वह भगवान स्वयं हैं।

कर्मयोगी भी, क्योंकि भगवान के इसी लोक संग्रह के भाव को पूरी तरह से जीता है इसीलिये भगवान को कर्मयोगी अत्यन्त ही प्रिय है। कर्मयोगी की व्याख्या करते हुए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – हमें प्रकृति की दासता से ऊपर उठना है और अपने अधिकार की प्राप्ति करनी है। और प्रकृति की दासता का सीधा अर्थ है सत्व, रजस एवं तमस के सहज प्रभाव से अपने को मुक्त करना। अत: हमें पहले कर्मों द्वारा तमस की सहज निष्क्रियता से अपने को मुक्त करना है, तत्पश्चात् निम्न कार्यों की आसक्ति से। निम्न वृत्ति एवं चाह से हमारी मुक्ति उच्च वृत्ति एवं उन्नत लक्ष्यों को अपनाने से होती है। कालान्तर में हम इस प्रकार उसमें स्थापित हो जाते हैं कि हम गिरी हुई कोई बात सोच ही नहीं सकते और न ही कुछ वैसा कर ही पाते हैं। पर स्वामी जी कहते हैं कि सद्वृत्तियों से निर्मित स्वभाव को पा लेना ही हमारे जीवन का आदर्श नहीं है। इससे भले ही हमें समाज में प्रतिष्ठा मिल जाये – हम अच्छों की कोटि में गिने जाने लगें, किन्तु यह हमारे जीवन की अन्तिम मंजिल नहीं है। हमें तो अपनी सात्विकी प्रकृति और उससे जुड़े हुए सात्विकी अहंकार से भी ऊपर उठना होगा। पैरों में कांटा चुभने पर दूसरे कांटे से हम उसे निकाल देते हैं पर है तो वह कांटा ही और जब उससे जो कुछ सधना था सध चुका, तो हमें उसे भी फेंक देना है। इस प्रकार स्वामी जी सद्वृत्ति के पाश से, उससे जुड़े हुए अभिमान से, मुक्त होने का आह्वान करते हैं। तदुपरान्त जिस भाव की हमें प्राप्ति होगी उसे 'त्रिगुणातीत भाव' कहा गया है। उस भाव में स्थित चेतना की कर्मों से संन्यास की स्थिति नहीं होती। उसकी सतत सक्रियता स्वामी-भाव से ओतप्रोत होती है। वह शुद्ध, पवित्र, अनियन्त्रित और इसीलिये पूर्णत: मुक्त होती है। यही जीव का अपना शुद्ध स्थायी रूप है और इसी को व्यक्त करना उसकी नियति। किसी से भी न बँधते हुए काल की आवश्यकता के अनुरूप कार्य करना ही अनासक्ति योग है और वही मानव जीवन की अति मानवीय नियति है। इसी को शुद्ध अपार्थिव प्रेम भी कहा गया है क्योंकि इसमें पार्थिव दूरियाँ भी किसी प्रकार की शिथिलता नहीं लातीं। न ऐसा प्रेम कभी मरता है, और न ही वह मन में किसी प्रकार की कडुवाहट उत्पन्न करता है।

इस अनासक्ति योग में स्थित होना सरल नहीं है। सम्पूर्ण जीवन या इस जैसे अनेकों जीवन इसे प्राप्त करने में होम हो जायें तो क्या आश्चर्य? पर हम जब इसे प्राप्त कर लेते हैं, तो हमें कुछ भी प्राप्त करना नहीं होता। हम इच्छाओं की पकड़ से पूर्णत: मुक्त हो जाते हैं और एक सरल निश्छल भाव से ओतप्रोत चेतना उन्मुक्त आनन्द सर्वत्र बिखेरती है और बदले में कुछ भी नहीं चाहती। कर्त्तव्य के पालन में तन्मय – यही नहीं, उस करने के भाव से भी पूर्णत: मुक्त होने ही में इस जीवन की सार्थकता है। क्या माँ अपने बच्चे से कुछ चाहती है? उसके लिये कुछ करते रहना ही उसके जीवन की एक मात्र आकांक्षा है और वह ही उसके लिये खुशियों का अजस्र स्रोत है।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि यदि आप अपने को स्थायी रूप से देने वाले में रूपान्तरित कर लें, एक ऐसे भाव में पूर्णत: रसमग्न हो जायें जहाँ पाने की कोई इच्छा ही नही रहे, तभी आप कर्मयोग की भाव-भूमि को समझ सकते हैं। ठीक इसके विपरीत हैं वे लोग, जो हमेशा याचक ही बने रहते हैं। दीन, हीन, स्वाभिमान रहित – कितनी तहें संकुचन की ये अपने में समेटे रहते हैं। क्या ऐसा व्यक्ति कभी उदार हो सकता है? क्या कभी किसी को कुछ देने की सोच सकता है? क्या कभी हमारी आस्था का पात्र हो सकता है?

"Do you expect anything from your children in return for what you have given them". – ***Vivekananda, Vol. I, 1959***

स्वामी विवेकानन्द को त्याग की इस संस्कृति पर गर्व है। उनका कहना है कि क्या इस आधार-शिला के बिना हम न्याय की, सेवा की, कृपा की बात भी

सोच सकते हैं? अधिकार और तत्सम्बन्धी न्याय की बात करने वाला समाज, कभी भी भीतर से समृद्ध नहीं कहा जा सकता है, अधिकार की बातें करने वाला समाज, कभी भी न्याय नहीं कर सकता है। जहाँ स्वत्व पर, अपनेपन पर जोर दिया जाये वहाँ कालुष्य रहित प्रेम पनप ही नहीं सकता। न्याय एवं अधिकार की ये बातें तो बचकानी हैं और हमारी क्षुद्रताओं को ही बढ़ावा देती हैं। इनके आधार पर किसी महती स्वप्न को साकार करने की बात सोचना असम्भव है।

विश्व में कार्य करने के दो ही भाव हैं – स्वार्थ और दया। स्वार्थ-वृत्ति सहज है, प्राकृतिक है और इसलिये हम सभी की केन्द्रीय वृत्ति है। शुद्ध दया एवं प्रेम का भाव तो विरल है पर वह ही सही अर्थों में स्वर्ग है।

एक और तरीका है जीवित रहने का और वह है अपने कार्यों को, अपने सम्पूर्ण जीवन को, यज्ञ में रूपान्तरित कर देने का। सभी कार्य तब अर्घ्य का रूप ले लेते हैं। पर यह तभी सम्भव है जब हम ईश्वर में अप्रतिम विश्वास रखें। ऐसे आस्थावान व्यक्ति के सभी कार्य उसके आराध्य ही को अर्पित होते हैं इसलिये वह बदले में किसी से भी किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं रखता उसके कार्य उसे बाँधते नहीं और वह पूजा-भाव से उन्हें करता हुआ उनसे मुक्त रहता है। ऐसा समर्पित व्यक्ति भारी भीड़ में भी अनेक प्रकार की बाधाओं एवं हलचलों के बावजूद भीतर से पूर्णतः शान्त और सौम्य बना रहता है।

"We often talk of right and justice, but we find that in the world right and justice are mere Baby's talk." – Worts, Vol. 1, 1-55.

अपने आप को पूर्णतः मिटा देने वाला व्यक्ति ही अपने को दिव्य एवं पावन बना लेता है। इस त्याग की महिमा स्वामी जी एक अत्यन्त ही सुन्दर कहानी द्वारा प्रस्तुत करते हैं। कुरुक्षेत्र के युद्ध के पश्चात पाण्डवों ने एक बहुत ही बड़ा यज्ञ किया जिसमें अन्न एवं धन-धान्य भी वितरित हुआ। सभी चकित थे और उनकी दानशीलता की भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे। तभी वहाँ एक नेवला आया जिसका आधा शरीर सोने का था और जो भूमि पर बार-बार लोट रहा था ताकि उसका पूरा शरीर सोने का हो जाये। ऐसा न होने पर उसने लोगों से कहा आप क्यों व्यर्थ की प्रशंसा कर रहे हैं? उसने तब एक कहानी सुनायी जिसमें किसी प्रकार एक निर्धन ब्राह्मण के सम्पूर्ण परिवार ने अतिथि सत्कार में अपनी जानें सहर्ष दे दीं। एक छोटे से गाँव में अकाल पड़ा। लोग भूखों मर रहे थे। इस ब्राह्मण परिवार को भी कई दिनों से अन्न नहीं मिला था। एक दिन गरीब ब्राह्मण को कहीं से थोड़ा सा जौ का आटा मिला जिसकी बराबर से चार रोटियाँ सिकीं। ज्योंही वे खाने को जा रहे थे दरवाजे पर दस्तक हुई। एक अतिथि था जिसे बहुत तेज भूख लग रही थी। ब्राह्मण ने सहर्ष अपना हिस्सा उसे दे दिया। पर अतिथि की भूख मिट न सकी। बारी-बारी से सभी ने अपने हिस्से उसे देकर तृप्त किया। उसी रात को वे सभी मर गये और मैं जब उस धरती पर लोट रहा था तो अन्न के कण जो वहाँ गिर गये थे उनसे मेरे शरीर का आधा भाग सोने का हो गया। तब से अब तक मैं सभी जगह घूम रहा हूँ कि मुझे वैसा त्याग देखने को पुनः मिले और मेरे शरीर का शेष भाग भी सोने का हो जाये। पर मुझे अभी तक निराश होना पड़ा है।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं त्याग-संस्कृति का यह रूप अद्भुत है। पर दुःख की बात है कि आज हम में ऐसी कोई आस्था नहीं रह गयी है। कर्मयोग त्याग के इसी भाव को हम सभी के लिये आदर्श के रूप में प्रस्तुत करता है और स्वीकार करने की, संचय की अदम्य लिप्सा को आत्मघाती मानता है। कर्मयोग, कर्म की गरिमा को स्थापित करता है और कर्म न करने की वृत्ति को निन्दनीय मानता है।

सामान्यतः हम सभी कामना से प्रेरित होकर लाभ-हानि के लिये कार्य करते हैं। इसीलिये हमें कुछ कार्य प्रिय और कुछ अप्रिय प्रतीत होते हैं। पर मात्र कर्त्तव्य समझ कर कार्यों को करना सभी

दृष्टियों से श्रेयस्कर है क्योंकि इस प्रकार किये हुए कार्यों द्वारा हम अपने आपको, अपनी सहज स्वार्थ वृत्ति से सहज मुक्त कर लेते हैं। इसलिये गीता में कृष्ण अर्जुन को क्षत्रिय धर्म का पालन करने के लिये कहते हैं क्योंकि वही उनका स्वधर्म है। उनका कहना है, कि क्षत्रिय स्वभाव से संन्यासी नहीं हो सकता। उसे संन्यास की बातें करना शोभा नहीं देता। पर जब वह फल-प्राप्ति की इच्छा न रखते हुए अपने कर्त्तव्य का निष्ठा से पालन करता है तब वह सहज ही अपने भीतर उस भाव-भूमि का निर्माण कर लेता है, जो सही अर्थों में संन्यासी की भाव-भूमि होती है। इसीलिये गीता, ज्ञान-योग की तुलना में कर्म-योग को सहज मानती है।

इन्हीं विचारों को गुरुदेव स्वामी रामानन्द जी कर्म-संन्यास के सन्दर्भ में व्यक्त करते हुए हमारा मार्ग-दर्शन करते हैं। स्वामी जी कहते हैं कि आप किस चीज के त्याग की बात कर रहे हैं? कर्मों का त्याग तो सम्भव ही नहीं है और कर्त्तव्यों के त्याग की बात को सोचना बचपना ही है। वह हमारी कमजोरी को ही व्यक्त करता है। जिम्मेदारियों से बचने वाला व्यक्ति तो सब तरह से बँधा और अपरिपक्व रह जाता है। वह पूरी तरह से मनुष्य ही नहीं बन पाता, दिव्य, पावन और भागवती-भाव को व्यक्त करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

पुनः स्वामी जी कहते हैं – आखिर आप दुनिया से भागकर जायेंगे कहाँ? क्या आप दुनिया से इसलिये भागना चाहते हैं कि आप अपने प्रियजनों के प्रति, अपनी जिम्मेदारियों से ऊब चुके हैं, अथवा उनका पालन आपको कष्टप्रद प्रतीत होता है? क्या आप धन-संचय, मान सम्मान से इसलिये भाग रहे हैं, कि आपकी महत्त्वाकांक्षा आपको जिन तनावों के बीच जीने के लिये मजबूर करेगी वह आपके लिये कष्टप्रद होगा। याद रखिये इनमें से कोई भी चीज मनुष्य को बाँधती नहीं। यदि कोई चीज हमें बाँधती है, तो वह है हमारा ममत्व, हमारी आसक्ति, ''मैं'' और ''मेरे'' का भाव। और वह तो भागने पर भी हमारा साथ नहीं छोड़ता। तो फिर इनसे भागना कैसा? और महत्त्वाकांक्षा? वह तो हमारी पूँजी है, शुभ कार्य में लगायेंगे, भगवत-भाव की प्राप्ति में लग जायेगी तो रास्ता जल्दी तय हो जायेगा। इसलिये हमें इनके प्रति अपनी समझ को विकसित करना होगा।

हमें जीवन के प्रति एक स्वस्थ स्वीकारात्मक भाव विकसित करना होगा, हमें अपने प्रियजनों को स्वीकार करते हुए उनके प्रति अपने प्रिय-अप्रिय कर्त्तव्यों का पालन करना होगा, तभी हम धीरे-धीरे अपने में मानवीय गुणों की अभिव्यक्ति कर सकेंगे – हम दयालु एवं संवेदनशील हो पायेंगे और अपने इर्द-गिर्द के जीवन को अपनी उपस्थिति से सौम्य और मधुर बना सकेंगे। और ऐसा तभी हो सकेगा जब हम अपने सम्पूर्ण जीवन को 'यज्ञ' में रूपान्तरित कर दें। तभी हम भीतर से निर्मल और पवित्र हो पायेंगे और हमारा प्रत्येक कर्म एवं भाव अर्घ्य रूप में व्यक्त होगा भगवान के चरणों में। जीवन सतत साधना हो जायेगा और अपना कुछ भी शेष नहीं रह जायेगा। फलस्वरूप निम्न वृत्तियों से तो हमें मुक्ति मिलेगी ही, उच्च वृत्तियाँ भी प्रभु-चरणों में अर्पित होकर कर्त्तापन के भाव का सहज त्याग कर लेंगी। हम शुद्ध निर्मलता को प्राप्त करते हुए भगवान से पूर्ण अनन्यता स्थापित करने में सफल होकर कह सकेंगे – तेरी इच्छा पूर्ण हो माँ! इसी भाव को भागवती-भाव कहा गया है और इसी भाव को संन्यासी अपने जीवन में साकार करता है। जीवन से बाहर आ जाना तो संन्यास नहीं है। वह तो कायरता है, जीवन से पलायन है। यही नहीं, असामयिक वैराग्य तो मृत्यु से भी कष्टप्रद है क्योंकि वह जीवन की उज्ज्वल सम्भावनाओं के विकसित होने का द्वार ही बन्द कर देता है।

स्वामी जी कहते हैं –

''क्या कर्म बाँधते हैं? नहीं हमारी आसक्ति हमें बाँधती है।

फिर कर्म संन्यास क्यों?

''क्या प्रेम बाँधता है? नहीं, वह तो त्याग की

भाव-भूमि पर पनपता है। बाँधती तो हमें, हमारी आसक्ति ही है।

''क्या सम्पत्ति हमें बाँधती है? नहीं, बाँधती तो हमारी वस्तुओं की चाह है, उनके भोग की कामना है, जो कभी हमें चैन नहीं लेने देती।

''क्या महत्त्वाकांक्षा हमें बाँधती हैं? नहीं, यह तो ऊर्जा है, जिसका हमें इस्तेमाल करना है आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये व हमें तो उसे लौकिक आकांक्षाओं से मुक्त करना है। केन्द्र में अध्यात्म को, पूजा को, साधना को स्थापित करके उसे अस्वीकार करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। फिर मांगने का प्रश्न कैसा? जीवन को स्वीकार करते हुए, उसकी सभी शर्तों को समझते हुए तथा अपने स्वभाव को जानते हुए पूजा के रूप में कालोचित कार्यों को करते रहना ही जीवन व्यतीत करने का सही तरीका है। भगवान हैं – इसे जानते हुए ही हमें अपने आपको उसके हाथों में सौंपने के लिये तैयार हो जाना चाहिये। वह ही हमें रास्ता भी बतलायेंगे और उस पर चलने का बल भी देंगे। आवश्यकता है विश्वास की, समर्पण की, विश्व की योजना में अडिग आस्था की।

वैराग्य तो एक ऋणात्मक आदर्श है और सभी के लिये न तो सहज ही है और न मंगलकारी ही। जैसे सूर्य का प्रकाश अपने आप ही सितारों के प्रकाश को परिव्याप्त कर लेता है, वैसे ही जब साधक के हृदय में भगवान में प्रीति बढ़ती है, तो बाकी सभी आसक्तियाँ अदृश्य हो जाती हैं। स्वामी जी तो इसके आगे भी कहते हैं, कि वैरागी होने का संकल्प भी भ्रमिक है क्योंकि वह एक प्रकार का बन्धन ही है और हमें भगवान से दूर रखता है।

स्वामी जी का अपना व्यक्तित्व और कृतित्व उनके अडिग विश्वास को जीवन भर साकार करता रहा। उनके शब्द आज भी उन विरल साधकों के लिये मन्त्र का कार्य कर रहे हैं, जिन्हें उन्हें सुनने का, उनसे दीक्षित होने का सौभाग्य मिला है। वे आज भी सभी साधकों का मार्ग दर्शन कर रहे हैं और उनकी बिखरती हुई आस्थाओं को पुनः जीवन दान दे रहे हैं।

– लक्ष्मी सक्सेना जी

(पुरानी पत्रिका से उद्धृत)

शोक समाचार

अत्यन्त दुःख के साथ सूचित किया जाता है कि कानपुर की साधिका बहन श्रीमती अर्चना मिश्रा के युवा पुत्र श्री अशिखेन्द्र मिश्रा का स्वर्गवास दिनांक 9 जून, 2021 को हो गया है। अपने पुत्र की स्मृति में उन्होंने रु. 2,500/- (पच्चीस सौ रुपये मात्र) की धनराशि धाम के लिए गुरु चरणों में समर्पित की है। पूज्य गुरुदेव से विनम्र निवेदन है कि दिवंगत आत्मा को अपने श्री चरणों में स्थान देने की कृपा करें तथा समस्त शोक सन्तप्त परिवार को इस असीम दुःख को सहने की शक्ति प्रदान करें।

❖ ❖ ❖

अत्यन्त दुःख के साथ सूचित किया जाता है कि कानपुर की साधिका बहन श्रीमती सरोजनी गंगवानी के पुत्र श्री सुनील गंगवानी का स्वर्गवास दिनांक 4 मई, 2021 को हो गया है। अपने पुत्र की स्मृति में उन्होंने रु. 2,000/- (दो हजार रुपये मात्र) की धनराशि धाम के लिए गुरु चरणों में समर्पित की है। पूज्य गुरुदेव से विनम्र निवेदन है कि दिवंगत आत्मा को अपने श्री चरणों में स्थान देने की कृपा करें तथा समस्त शोक सन्तप्त परिवार को इस असीम दुःख को सहने की शक्ति प्रदान करें।

शाश्वत्-शान्ति

(थ्योसोफिकल आनन्द लॉज द्वारा फरवरी 1948 में आयोजित स्वामी जी का भाषण)

व्यावहारिक शान्ति – शाश्वत् शान्ति के पूर्व का स्तर है 'व्यावहारिक शान्ति' जो कि कुछ सीमा तक आधुनिक मनोवैज्ञानिकों विशेषत: Psycho Analysts का लक्ष्य है। वहाँ हम अपने अन्तस का स्वयं के साथ तथा समाज के साथ पूर्ण या आंशिक रूप से तादात्म्य कर चुकते हैं। इस तादात्म्य का, इस सामंजस्य का ध्येय एकमात्र यह है कि हम अपनी निम्न सहज प्रवृत्तियों को उनके कार्य के लिये समुचित कार्य क्षेत्र प्रदान कर, अपने अन्तस की शान्ति द्वारा बाह्य जगत की शान्ति संस्थापन के, सामंजस्य स्थापन के कार्य में योग दे सकें, जिसके अभाव में मानव विकास (आत्मिक) सम्भव नहीं। मानव विकास के लिये परिवर्तन नितान्त अनिवार्य है और उस परिवर्तन की पृष्ठभूमि में निरन्तर संघर्ष का अस्तित्व है जिससे मुक्त होना किसी भी प्राणी के लिये सम्भव नहीं। इस ध्रुव सत्य को विनीत रूप से स्वीकार कर लेने पर हम स्वत: शान्ति के पथ पर अग्रसर होते रहते हैं –

'शान्ति एवं अशान्ति क्या है? वातावरण के प्रति हमारी व्यक्तिगत प्रतिकिया का यह स्वभाव विशेष है। यह बहुत कुछ आन्तरिक है, बाह्य नहीं और हमें तभी प्राप्त हो सकती है जब हम अपने स्वभाव में परिवर्तन ला सकें। वातावरण में किसी भी प्रकार का परिवर्तन हमें इस वस्तु को दिला नहीं सकता।

'What is Shanti and Ashanti?' It is the quality of our reaction to our surroundings. It is something internal, not external and it can be had only when we make a change in our constitutions. No amount of change in the environments can bring it.

परिवर्तन के पश्चात् महान परिवर्तन भी अनिवार्य है। जब परिस्थितियों के प्रति प्रतिक्रिया करने की हमारी क्षमता न्यून हो जाती है, न्यून ही नहीं उसका क्रमिक ह्रास हो जाता है और हमारा विकास क्षण भर के लिये स्थगित सा होने लगता है, तब महा-परिवर्तन हमारा सहायक हो कर आता है। अतएव मृत्यु की अनन्त गोद भी हमारे विकास का एक रूप है। वह विकास का एक विशेष स्तर है, जिसके पश्चात् हम पुन: नवीन शक्ति से अनन्त विकास की ओर अग्रसर होते हैं।

मृत्यु के प्रति उक्त दृष्टिकोण मृत्यु के प्रति हमारे भय को समूल रूप से नष्ट कर देता है और जीवन में अशान्ति का एक बहुत बड़ा कारण हमारे मध्य से हटा लेता है। अतएव व्यावहारिक शान्ति के लिये सर्वप्रथम जो बात हमें समझनी है वह है 'जीवन' और बनाना है उसके प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण! इस प्रकार की व्यावहारिक शान्ति जिसके द्वारा हम समाज में तथा अपने अन्त:करण में सहज रूप से विचरण करने की क्षमता प्राप्त कर लेते हैं। वह प्रथम स्तर है जिसके उपरान्त हम उस शाश्वत् शान्ति को अपने जीवन का लक्ष्य बना सकते हैं – उसके पूर्व नहीं। परिस्थितियों में, विषम से विषम परिस्थितियों में भी विचलित न होना, उन्हें सहज रूप में ग्रहण करना ही मानव के आत्मिक विकास की सूचक है। परिस्थितियों का स्थायी रूप से रहना, संघर्ष का समूल रूप से विनाश, असम्भव ही नहीं, प्रत्यक्ष रूप से हानिकारक है।

उस जगतनियन्ता, विश्व निर्माता के हाथ में हम प्रस्तर की नाईं पड़े हुए हैं जो हमें परिस्थितियों द्वारा नित्यप्रति ढालने की चेष्टा कर रहा है, हमारे लिये नये कलेवर के निर्माण में मग्न है और वह है पूर्णत्व का। फिर क्यों हम उन प्रहारों के प्रति विद्रोह प्रकट करें, विचलित हों, और होना व्यर्थ भी है क्योंकि हम अपने विद्रोह द्वारा उसके निर्विघ्न कार्य को क्षति पहुँचाने में पूर्ण रूप से असमर्थ हैं। उसका कार्य तो अविच्छिन्न रूप से चल रहा है अप्रभावित। अतएव जीवन के सत्य को समझना ही हमारे हृदय को शान्त करने की अद्भुत शक्ति

रखता है, और वह हमारे लक्ष्य की ओर जाने का, 'शाश्वत शान्ति' की ओर अग्रसर होने का प्रथम सोपान है। Psycho Analysts भी आंशिक रूप से उसी पथ के पथिक हैं किन्तु उनका ध्येय सीमित है – मनुष्य तथा समाज के सम्बन्ध को अधिक सामंजस्ययुक्त बनाना, उनके मध्य संघर्ष के कारणों को खोज कर दूर करना है, किन्तु वह बहुत कुछ बाह्य शान्ति है। उससे ऊँची एक और प्रकार की दिव्य शान्ति है जो वांछित है, जो मानव की आत्मा से सम्बन्ध रखती है।

शाश्वत शान्ति प्राप्त करने के उपाय – लक्ष्य के निकट हम तभी पहुँच सकते हैं जब हम अपने और उसके मध्य के समस्त अवरोधों का पूर्णरूपेण परिहार कर दें। प्रधानतया जीवन में हम हृदय के अनुशासन को स्वीकार करते हैं। अतएव राग-द्वेष की सहज प्रवृत्तियों के मध्य हमारा जीवन सदैव झकोले लेता रहता है, जो हमें निरन्तर उद्विग्न बनाये रहती हैं। बुद्धि का अनुशासन कठोर होता है, अतएव वह सरलता से स्वीकार नहीं होता और फिर भौतिक पदार्थों के प्रति आकर्षण इतना प्रबल होता है कि बौद्धिक शासन को हम भुला देते हैं। उसकी पुकार हमें सुनाई नहीं पड़ती, सुनाई पड़ने पर वह निरर्थक सी प्रतीत होती है और हम बरबस ही उस आकर्षण में, राग-द्वेष द्वारा विनिर्मित उस जाल में अपने को बन्दी बना लेते है। अतएव लक्ष्य के निकट पहुँचने में प्रधान अवरोधक हैं हमारे हृदय के मनोविकार जिनमें प्रमुख है – आशा – हृदय से उद्भूत आशा, तर्क की कसौटी से अछूती आशा, स्वच्छन्द आशा, हमारे अन्तस की अशान्ति के मूल्य में है। ऐसी आशा जो मानवीय दुर्बलताओं को, और परिस्थितियों की विवशता का बिना अनुमान किये ही हृदय में उत्पन्न होती है, कभी उस रूप में हमारे सम्मुख प्रत्यक्ष नहीं होती जिस रूप में हम उसे चाहते हैं।

एक अन्य दृष्टिकोण से विचार करने पर यह हमारी निजी दुर्बलता है जो आशा के नवीन कलेवर में हमारे सम्मुख उपस्थित होती है। किन्तु वह जो तर्कसंगत आशा है, जो बुद्धि से, तर्क से परिष्कृत हो प्रकट होती है एक सीमित रूप में, जो व्यक्ति, देश, तथा काल की सीमाओं का ध्यान रख कर की जाती हैं, ऐसी आशा और ऐसी अन्य सभी स्वस्थ आशायें कभी व्यर्थ नहीं जातीं और हमारे नित्य के व्यवहारों में भी किसी प्रकार की उलझन नहीं खड़ी करतीं। हृदय को पूर्णरूपेण शून्य रखना आशाओं से, मनुष्य के लिये, इस स्थूल शरीरधारी के लिये विकास के कुछ स्तरों तक असम्भव है, क्योंकि, ऐसी स्वस्थ आशायें जो देश काल तथा व्यक्तिगत सीमाओं का ध्यान रखती हैं, हमारे विकास के लिये अनिवार्य हैं। इसके विपरीत अस्वस्थ आशायें जो उन सीमाओं को उल्लंघन कर व्यक्त होती है हमारे लिये निराशा का कारण ही नहीं बनतीं वरन् हमारे विकास में भी बाधक होती हैं। हमारी शक्तियों का उनके कारण व्यर्थ में दुरुपयोग ही होता है लाभ नहीं।

भय - यह एक दूसरा मनोविकार है जो अपना विष निरन्तर फैलाता रहता है। फलस्वरूप हमारी उद्विग्नता की वृद्धि निरन्तर होती रहती है। भय अनेक कारण से तथा प्रकार का होता है – आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ तथा स्थूल शरीर ही भय के प्रधान स्तम्भ हैं। उसके मूल में है एक विचित्र मानसिक स्थिति जो परिवर्तन की, संघर्ष की विरोधी है। जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण बनाना तथा जीवन की वास्तविकता को समझना बहुत कुछ मात्रा में इसको नष्ट कर सकता है।

'परिवर्तन ही जीवन है' – परिवर्तन जीवन ही नहीं उसके बिना जीवन असम्भव है। अतएव उसको मुक्त हृदय से स्वीकार करना ही हमारे लिये हितकर होगा, उसका विरोध निरर्थक है। परिवर्तन के प्रति भय, जीवन के प्रति भय है – विकास के प्रति भय है। अतएव विरोध निरर्थक ही नहीं वरन् हानिकारक भी है। भयंकर से भयंकर घटना अप्रत्याशित रूप से हमारे सम्मुख प्रत्यक्ष हो सकती है। केवल मात्र भय से यदि हम उससे मुक्त हो सकते तो वह सार्थक भी होता। जब उसको प्रभावित करना हमारे लिये सम्भव नहीं

तो भय का प्रयोजन? स्वच्छन्द आशा की भाँति भय द्वारा भी हमारी शक्तियों का दुरुपयोग होता है। उनका व्यर्थ में ह्रास ही नहीं होता वरन् उस आपत्ति विशेष के लाभ से भी हम वंचित रह जाते हैं। भयानक से भयानक संकट, भीषण से भीषण घटना में स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से मानवहित संचित रहता है। मानव के लिये दिव्य सन्देश, उसकी आत्मा के विकास के साधन के रूप में अन्तर्हित रहता है। किन्तु भय उस ओर हमें देखने ही नहीं देता। हमें उससे लाभ उठाने का अवसर ही नहीं देता। और फिर मानसिक जगत में भय कभी-कभी हमारी आशंकाओं को साकार भी कर देता है – मनोविज्ञान का यह चिर सत्य है। अतएव जीवन को उसके असली रूप में स्वीकार करने वाला व्यक्ति निर्भीक हो, जगत में विचरण करता है, कारण उसने इस तथ्य को पूर्णत: समझ रखा है – 'प्रत्येक घटना स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से उसे प्रभावित करती है, उसे विकसित करती है, उसको नवीन स्फूर्ति भविष्य के लिये प्रदान करती है – 'अतएव उसके प्रति भय कैसा? उदासीनता कैसी? अदम्य उत्साह से उसका सामना करने में ही उसकी भलाई है।'

शाश्वत शान्ति – उसके नियम – शाश्वत् शान्ति के प्रधान स्तम्भ हैं वे पाँच अमर सिद्धान्त जो आध्यात्मिक जगत का नियन्त्रण करते हैं और जिनके उल्लंघन करने पर ज्ञात या अज्ञात रूप से मनुष्य को अपनी सबसे बड़ी विभूति कीमत स्वरूप देनी पड़ती है – आत्मिक शान्ति। जिसके अपहरण द्वारा मनुष्य अपना सब कुछ खो बैठता है। कारण भौतिक जगत से प्राप्त सुख, शान्ति क्षण भंगुर होने के अतिरिक्त एक महान भ्रान्ति भी हैं। साधारणत: लोगों का विश्वास है कि इन मौलिक सत्यों का उपयोग तथा पालन कुछ विशेष स्तर के लोगों के लिये, कुछ विशेष पथ का अनुसरण करने वालों के लिये ही अनिवार्य है। किन्तु यह एक महान मृग मरीचिका है। भौतिक संसार में रहते हुए भी हमें नित्य प्रति उन सिद्धांतों को दृष्टि में रखना होगा अन्यथा मनुष्य का सामाजिक जीवन भी असामंजस्यपूर्ण, संघर्षपूर्ण हो जायेगा। मनुष्य अपने तथा समाज के मध्य एक अपूर्व सामंजस्य की स्थापना इन नियमों के आधार पर कर सकता है जो उसके विकास के प्रत्येक स्तर के हेतु अनिवार्य हैं। उन मौलिक सिद्धान्तों में प्रमुख हैं –

अहिंसा – केवल नकारात्मक शब्द नहीं। इसके पीछे अपूर्व स्नेह का उदधि हिलोरें ले रहा है। प्राणीमात्र के प्रति संवेदना, उनको किसी रूप में भी क्षति न पहुँचाना ही इसकी आत्मा है। किन्तु विशुद्ध स्नेह – नि:स्वार्थ भाव से आप्लावित हृदय के अभाव में यह सम्भव नहीं – ऐसा स्नेह जिसके कोमल अंचल में समस्त विश्व आश्रय ले सके All-embracing love; और यह तभी सम्भव है जब हम अपनी इकाई को विश्व की इकाई में विलीन कर दें, अपने हित को विश्व-हित में समझें।

साधारणत: विश्व के स्नेह-रूप का अध्ययन यदि हम करें तो हमें पता चलेगा कि उसमें द्वेष सूक्ष्म रूप से वर्तमान रहता है। इस विषमता से हमें अपने को मुक्त करना होगा। हमें अपने प्रेम को परिष्कृत करना होगा और बिना मूल्य दिये यह सम्भव नहीं।

द्वेष – वास्तव में बड़ा घातक है चाहे वह स्वतन्त्र अभिव्यक्ति के रूप में हो चाहे प्रतिक्रिया स्वरूप। कारण उसके बदले में हमें अपनी अमूल्य निधि कीमत स्वरूप देनी पड़ती है – मानसिक शान्ति एवं स्थिरता। साथ ही बाह्य जगत में भी एक अस्वस्थ वातावरण की सृष्टि होती है जिसके द्वारा हम अपनी निजी विकास की प्रगति में ही नहीं, वरन् उन सभी व्यक्तियों के विकास में अवरोध उपस्थित करते हैं जो हमारे जीवन के सम्पर्क में हैं। इसके अतिरिक्त एक विषम चक्र Vicious Circle (द्वेष का) की सृष्टि होती है जो दु:खदायी होता है।

अतएव जो व्यक्ति जितमी मात्रा में इस सिद्धान्त के निकट होता है उतनी ही मात्रा में अपने लिये वह शान्ति का संचय करता चलता है।

सत्य – प्रेम से परिष्कृत 'सत्य' ही सत्य कहलाने का अधिकारी है। जब वह स्पष्टवादिता के कलेवर

में अभिव्यक्त होता है तो वह अशान्ति की सृष्टि करने के कारण अपने ऊँचे आदर्श से गिर जाता है। राग द्वेष की भावना से परिष्कृत सत्य ही आध्यात्मिक विकास का परिचायक है। नैतिक जगत का सत्य वह ऊँचे स्तर का सत्य है। वहाँ मनुष्य अपने निजी स्वार्थ का सम्पूर्ण विस्मरण कर चुकता है। अपनी क्षुद्र इकाई को दिव्य इकाई में पूर्णत: विलीन कर चुकता है और केवल परहित का भाव उसके अन्तस की प्रेरणा रहता है। असत्य के परिणाम का जो व्यक्ति ध्यान नहीं देता वह आध्यात्मिक जगत के इस प्रमुख नियम के प्रति अपराधी ठहरता है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में सन्धिपत्र को मनमानी रीति से तोड़ने पर जो स्थिति उत्पन्न होती है, आध्यात्मिक जगत में वही स्थिति इन नियमों से नियमित सीमा के अतिक्रमण करने पर होती है। दोनों ही अशान्ति के मूल हैं। द्वितीय प्रकार का अतिक्रमण अधिक घातक होता है व्यक्तिगत दृष्टि से भी और सामूहिक दृष्टि से भी।

अस्तेय – इस सिद्धान्त के अतिक्रमण के पीछे एक विचित्र अनुभूति कार्य करती है। वह है, 'लोभ' – दूसरों की वस्तु पर अनुचित रीति से अधिकार जमाना, अनुचित रूप से किसी व्यक्ति, स्थिति व साधन से लाभ उठाना – सभी इसके अन्तर्गत हैं। किन्तु इसकी कीमत? मनुष्य अपने दिव्यत्व का हनन कर अपने को पाश्विक स्तर तक ले आता है। जिस स्थिति में उसे सुख मिलता है वह क्षणिक होने पर भी आकर्षक होती है किन्तु अशान्ति का सृजन करती है। उसकी बुद्धि का क्रमश: लोप होने लगता है। हाँ! उसकी कुबुद्धि विकसित होती है अपने पशुत्व की रक्षा-हेतु। किन्तु स्मरण रहे मनुष्य के दिव्यत्व का विनाश सम्भव नहीं।

संघर्ष – आन्तरिक द्वन्द्व के रूप में उसका अस्तित्व निरन्तर व्यक्त होता रहता है और एक समय आता है जब हृदय में संघर्ष होता है – जिससे होता है – 'घोर विप्लव' मन्थन जो उसे उसकी पाश्विकता का बोध कराता है। उसे पश्चात्ताप की ज्वाला में जलना होता है। कारण, परिस्थितियों की प्रतिक्रिया इतनी तीव्रता से होती है जिसकी वह कल्पना भी न कर सकता था कभी। जिस चतुराई से वह अपनी कुचालों में सफलता प्राप्त करता रहा उससे असंख्य गुनी चतुराई का वह शिकार हो जाता है। यही नहीं अपनी इन कुचालों द्वारा हम अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के सम्मुख एक निम्न आदर्श प्रस्तुत करते हैं और समस्त वातावरण को दूषित करते हैं।

ब्रह्मचर्य – अपने विस्तृत अर्थ में है – अपनी इन्द्रियों का संचालन इस रूप में करना कि वे भोग (Indulgence) में न पड़ जायें। भौतिक जगत की वस्तुयें असाधारण आकर्षण रखती हैं। यदि संयमित रूप से हम उनके मध्य विचरण नहीं करते तो हम बड़ी सरलता से शिकार हो जाते हैं और तब इच्छा के विरुद्ध होने पर भी उनके पाश से हम मुक्त नहीं हो सकते। इन्द्रियों का उपयोग है केवल Discriminate करने के कारण। उनकी सहायता से हम अपने लाभ की वस्तुओं का संचय कर सकते हैं और अन्य वस्तुओं का बहिष्कार। इन्द्रियाँ हमारे बोध की प्रमुख साधन-शक्तियाँ हैं। उनकी सहायता से विकास के पथ पर हम अग्रसर हो सकते हैं।

किन्तु साधारणत: होता क्या है? इन्द्रियों के इस प्रधान उपयोग को भुला कर हम उन्हें सुख प्राप्ति के साधन बना देते हैं – लिप्सा की भावना प्रधान हो उठती है। परिणाम स्वरूप हम जो मूल्य देते हैं, व्यक्तिगत रूप से वह हमारे लिये घातक सिद्ध होता है। हमारा स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है, मानसिक जगत में असन्तोष की निरन्तर वृद्धि होती है, असन्तोष की ज्वाला निरन्तर धधकती रहती है और हमें अशान्त बना देती है। उदाहरण स्वरूप, Roman Emperor नीरो नित्य अनेक प्रकार के भोजन खाने पर भी सदैव अतृप्त रहता था। एक प्रकार की वस्तु का वह इतनी मात्रा में उपयोग करता था कि प्रकृति विद्रोह कर उठती थी। वमन के पश्चात वह पूर्ववत पुन: जुट जाता था। यह है परिणाम लिप्सा का।

अपरिग्रह – संचय करने की वृत्ति का पूर्ण निषेध। मानवीय दुर्बलताओं में यह वृत्ति प्रमुख है।

समस्त विश्व किसी अज्ञात शक्ति से संचालित है जो हमारी क्षुद्र बुद्धि से परे है। इस नाते इस जगत की कोई भी वस्तु पूर्ण रूप से हमारी नहीं हो सकती; अतएव उनसे ममत्व अज्ञानता ही तो है। जीवन के प्रति उक्त आसक्तिपूर्ण दृष्टिकोण बहुत कुछ हमें अशान्त बनाता है, क्योंकि मानव के दु:खों का कारण है कि जिन वस्तुओं का अपने निजी यत्नों से वह वर्षों में संचय करता है वह एक ही प्रहार में नष्ट हो जाती हैं। जीवन के इस रूप के प्रति विद्रोह उसके हृदय में उठना स्वाभाविक है। वह उस शक्ति के प्रति विद्रोही हो उठता है, परिणाम स्वरूप अशान्त किन्तु समाज में ताने-बाने के रूप में आबद्ध है। कोई भी वस्तु हमारे पास इस हेतु नहीं कि हम उसके योग्य थे वरन इसलिये है कि हम समाज के एक अंग विशेष हैं, उसके निर्माता हैं; अतएव वह सब वस्तुयें धरोहर स्वरूप हैं। किन्तु जब उनकी उपयोगिता उस रूप में नष्ट हो जाती है, वे हमसे अलग हो जाती हैं। उनके प्रति कैसा ममत्व?

शाश्वत शान्ति – मन एवं बुद्धि से परे की वस्तु – प्रथम स्तर की शान्ति व्यावहारिक शान्ति थी जो अशान्ति के ऊपरी उपचारों के प्रयोग द्वारा ही प्राप्य थी। परन्तु ऐसी शान्ति अस्थायी है – अशान्ति के मूल में प्रवेश न कर सकने के कारण उसका अस्तित्व सदा बना रहता है जो समय पर पुन: प्रबल हो उठता है। कारण के मूल में प्रवेश करने पर जो शान्ति प्राप्त होती है वह शाश्वत् है, किन्तु प्राथमिक शान्ति (व्यवहारिक स्तर की) इस तक पहुँचने की प्रथम सोपान है अतएव अनिवार्य है। उसका परिवर्द्धित एवं शोधित रूप यह है।

प्राय: देखा जाता है विश्व में तीन कोटि के मनुष्यों का अस्तित्व है।

(1) प्रथम वर्ग के मनुष्यों ने जीवन की कटुता की अनुभूति इस मात्रा में की है कि उनमें घोर निराशा ने अधिकार जमा लिया है। स्वतन्त्र रीति से उत्थान पथ खोज निकालने की उनकी क्षमता ही नष्ट हो चुकी है। एक नवीन शक्ति की आवश्यकता है जो उन्हें प्रोत्साहन दे, नूतन बल का संचार कर उन्हें विकासोन्मुख कर दे। मानसिक अशान्ति के ऐसे Victims जीवन में शान्ति के महत्त्व को समझने की क्षमता रखते हैं, संघर्ष से वे पस्त हो चुके हैं। स्वस्थ धरातल पर श्वास लेने के लिये वे विकल हैं। ऐसे व्यक्तियों से आशा करना कि वे संयम पथ पर चल कर उस लक्ष्य तक पहुँच सकेंगे, व्यर्थ है। उन पर अत्याचार होगा। उनके लिये बाह्य शक्ति का प्रयोग ही उपयुक्त है।

(2) द्वितीय वर्ग के व्यक्तियों में वे हैं जिनमें आत्मविश्वास अभी पर्याप्त मात्रा में है, संकल्प शक्ति का ह्रास अभी नहीं हुआ है, अपनी शक्ति के सहारे उत्थान पथ पर स्वयं चल रहे हैं, आध्यात्मिक पथ के उन पंच सिद्धान्तों के पालन द्वारा। ऐसे व्यक्ति जीवन में सुखी रह सकते हैं। किन्तु उनके विकास की सीमा होती है – वह चरम लक्ष्य उनसे उतना ही दूर रहता है। एक समय आता है जब विकास स्थगित हो जाता है – (spiritual stagnation) की स्थिति जिसमें लहरें उद्‌भूत करने के हेतु महान विप्लव की आवश्यकता होती है। कारण दिव्य लक्ष्य की प्राप्ति हेतु दिव्य साधनों की आवश्यकता होती है। अतएव उन साधनों को समझने के पूर्व हमें अशान्ति के मूल में प्रवेश करने की आवश्यकता है।

(3) तृतीय वर्ग के व्यक्ति वह हैं जो योगिक क्रिया में विश्वास रख उस साधना पथ को ग्रहण करते हैं। किन्तु वे उन के सहारे अपूर्व शक्तियों का संचय भले कर लें, उस दिव्य लक्ष्य को पाना सम्भव नहीं। मन की स्थिरता को भले ही पा लें, मन की भावना शून्य कर लें जो कि नकारात्मक मानसिक स्थिति है (negative state) किन्तु उस धनात्मक लक्ष्य तक पहुँचना उनके लिये भी कठिन है।

अशान्ति का मूल – अविद्या है, इस विश्व की संचालिका शक्ति के विषय में अज्ञानता। इस अज्ञान की प्रथम सृष्टि अहम् है – उस दिव्य संचालिका शक्ति से अपनी पृथकत्व की अनूभूति, जो कि हमारे विकास का प्रधान अवरोधक है। मानसिक विकारों

के रूप में – क्रोध, लोभ, मोह – वह अभिव्यक्त होता है। अतएव इस अविद्या के नष्ट होने पर स्वत: हम शान्ति के पथ पर अग्रसर होने लगते है। 'ज्ञान की ज्योति' हृदय की पार्थक्य अनुभूति को नष्ट कर, एक अपूर्व शान्ति का प्रसार करती है, जो शाश्वत है, अमर है, स्थायी है।

ज्ञान प्रज्ज्वलित करने का पथ – प्रथम वर्ग के मनुष्य जो संकल्प शक्ति शून्य हैं उनके लिये सरलतम उपाय है नाम स्मरण जिसके द्वारा एक अपूर्व शक्ति का स्फुरण होता है, आत्मविश्वास के संस्थापन द्वारा उत्थान की ओर विकास होता है। किन्तु नाम स्मरण के पीछे विशुद्ध समर्पण का भाव अनिवार्य है। जहाँ अपनी इकाई को उसमें पूर्णरूपेण विस्मृत करने की लालसा की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाये। उस सत्ता से निकटता प्राप्त करने का एकमात्र तथा सरलतम उपाय यही है।

भाव जगत तथा बौद्धिक जगत में एकत्व स्थापन का यह कार्य सरल नहीं। अतएव प्रभु से, उस दिव्य संचालिका शक्ति से समीपता की अनुभूति ही इस पथ के पथिकों का अन्तिम लक्ष्य हो जाता है। किन्तु यह अनुभूति जगती नहीं जब तक जीवन के थपेड़ों द्वारा उस अन्यतम लक्ष्य को प्राप्त करने की लालसा जागृत नहीं होती। जब तक हमारे सामने किसी प्रकार का आधार रहता है – 'अवलम्बन' – आन्तरिक या बाह्य जिसके द्वारा हम लक्ष्य (आत्मिक शान्ति) तक पहुँचने का साहस रखते हैं, तब तक यह क्षुधा, उस करुणानिधे की दया की लालसा, उस तीव्रता तक नहीं पहुँच सकती, वह विभोरता सम्भव नहीं जहाँ आत्मा की गहराई से सच्ची पुकार निकलती है – प्रभु से मिलन की। एक ऐसे विश्व की सृष्टि होती है जहाँ केवल उस परम सत्ता का अस्तित्व ही भासित होता है, अन्य किसी इच्छा का अस्तित्व ही नहीं। तभी प्रभु दया की वृष्टि सम्भव है।

इस क्षुधा के विषय में रामकृष्ण परमहंस कहते हैं – 'मुझे पथ प्रदर्शक के लिये दर-दर भटकने की आवश्यकता नहीं। हृदय में जब क्षुधा (शान्ति प्राप्त करने की) तीव्र होगी, हम स्वयं उसे अपने निकट पायेंगे।' अतएव इस दिव्य लक्ष्य – शाश्वत शान्ति को प्राप्त करने के लिये, जिस साधन की आवश्यकता है वह प्रभुकृपा है जिसके बिना इसकी प्राप्ति सम्भव नहीं। वही हमारे अन्तस में ज्ञान का दीप प्रज्ज्वलित कर, समस्त अशान्ति को समूल नष्ट कर देने की क्षमता रखती है।

(पुरानी पत्रिका से उद्धृत)

1.5.2021 से 15.8.2021 तक के दानदाताओं की सूची

31. श्री राकेश चन्द्र अग्रवाल, बिसौली	3100	42. श्री सुधीर कान्त अग्रवाल, मेरठ	15000
32. श्रीमती सुमन अग्रवाल, मुरादाबाद	2100	43. ऑनलाइन गुप्तदान	5000
33. साधकों द्वारा गुरु पूर्णिमा दान, हरिद्वार	17017	44. ऑनलाइन गुप्तदान	5000
34. श्री सुधीर कान्त अग्रवाल, मेरठ	21000	45. श्री सुधीर कान्त अग्रवाल, मेरठ	11000
35. श्री विष्णु कुमार अग्रवाल, बरेली	3100	46. श्री ओम शंकर गुप्ता, कानपुर	8100
36. श्री नितिन अग्रवाल, फरीदाबाद	15000	47. ऑनलाइन गुप्तदान	21000
37. श्री सचिन अग्रवाल, फरीदाबाद	11000	48. श्री रमेश सक्सेना, कानपुर	2100
38. श्री शिवम अग्रवाल, फरीदाबाद	5100	49. श्री रमेश सक्सेना, कानपुर	2100
39. श्री हरि नारायण अरोड़ा, नोएडा	2100	50. श्री विष्णु अग्रवाल, बरेली	3100
40. श्री विश्वामित्र हाण्डा, नई दिल्ली	5100	51. श्री विष्णु अग्रवाल, बरेली	2100
41. श्री विष्णु कुमार अग्रवाल, बरेली	5100	52. गुप्तदान	3000

श्रीमती रमन सेखड़ी जी शिविर में आरती करते हुए

श्री कृष्ण जनमाष्टमी के अवसर पर साधना धाम मन्दिर की झाँकी

पत्रिका के उपसम्पादक श्री रमेश चन्द्र गुप्त 'विनीत' द्वारा संकलित 'गीता प्रवेशिका' नामक पुस्तक का गुरु महाराज के चरणों में समर्पण